ISSN: 0971-8478
945 से प्रकाशित

जुलाई, 2016 ₹ 22

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक



सोशल मीडिया और हिंदी साहित्य

चार कविताएं : शहंशाह आलम



अंखुआ रहे शब्द मेरे

यहां जो कुछ भी था नया-टटका था बिलकुल
अभी-अभी जो धातु-शोधन का कार्य हुआ
उसके द्वारा
वह भी तो ताज़ा हो चुका था धातु की ही तरह
इस कार्य को पूर्णता प्रदान करते हुए
जैसे मैंने ताज़ा किया लोहार के घन को
बढ़ई के रंदे को
कुम्हार के चाक को
और स्वयं को भी
पुराने सबसे पुराने ओज से घिस-मलकर
जो ओझल हुआ चाहता था दृश्य से घबराकर
उसे भी प्रकट किया उसी बल से
उसी साहस से
प्रकट किया आकार-निराकार को
खिलने-खिलने को आतुर वनस्पति को
प्रकट किया छिपे कई-कई शत्रुओं को
गुफाओं को, वनों को, बाघों को
जो स्वभाव किसी लोहार, बढ़ई अथवा कुम्हार
का था
करोड़ों-करोड़ बरस से शताब्दियों से
वही तो मेरा भी है इस पृथ्वी के साथ
आकाश के साथ
जैसे अंखुआते हैं उनके विचार चीज़ों को
नव-रूप देते हुए
वैसे ही शब्द मेरे अंखुआ रहे भ्रम रहित
इन दिनों
उनसे उम्रभर का प्यार पाते हुए घास के इस
मैदान में।

लट्टू

मैं सूत लपेटकर लट्टू को फेंकता हूं पृथ्वी
पर पूरी ताक़त लगाकर
लट्टू नाचती है और नाचती हुई सात पाताल के
नीचे पहुंच जाती है
मैं पुरातल जाकर कुछ अन्न उन दिनों के लिए
बचाकर रख लेना चाहता हूं
जब मुझ पर एकदम लट्टू एकदम मोहित
एकदम आसक्त वह लड़की
तलातल घूमा लाने की ज़िद इस हद तक करेगी
कि अड़ जाएगी बिलकुल
यह कोई महान आश्चर्य नहीं होगा कि वह
लड़की मुझसे ज़िद करेगी
महान आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य अब भी
ठगे जा रहे हैं जस का तस
लट्टू है कि नाच रही है कच्छप की पीठ पर
घोड़े की नाल पर
स्त्री की नाभि पर नए लिखे जा रहे मुहावरे
पर पुराने खंडहर पर
हवा पर पानी पर पेड़ पर पहाड़ पर
पगडंडी पर लट्टूदार पगड़ी पर
जैसेकि मुझ पर मर मिटी वह लड़की खुशी
से पागल नाचती है अकसर
लड़की नाचती है महज़ इस उम्मीद में कि यह
दुनिया रहने लायक़ बची हुई है
लेकिन मेरी लट्टू को और मुझ पर पगलाई हुई
उस लड़की को
यह बिलकुल पता नहीं है कि कई-कई ठग
लड्डू लेकर निकल पड़े हैं
इस शहर की भाषा में उच्चारण में मन के लड्डू
खिलाने के लिए।

निराश होने की कविता

एक दिन सांप मनुष्य हो जाएंगे
इस पृथ्वी पर देखना
फिर मनुष्य क्या रह जाएगा
बताने की ज़रूरत नहीं
इसलिए कि मनुष्य जो कुछ सीख रहा है अपने
दिन और रात में
ज़हरीले सांपों से ही सीख रहा है अपने जीने
का सारा तरीका
एक दिन तेज़ बारिश होगी और कोई हाथ
छाता लेकर नहीं भागा आएगा हमारी तरफ़
एक दिन ज़ंजीरें हमारी दोस्त हो जाएंगी
एकदम सहिष्णु
इसलिए कि उन दिनों लोहार हमारे शत्रु हो जाएंगे
हमारे शरीर का एक-एक धातु नोच ले जाएंगे
अतृप्त बिलकुल
एक दिन हम कड़ियां-कड़ियां जोड़कर अपने
लिए कोई कथा लिखेंगे
हमारे जीवन का अंधेरा हमारे ही जीवन को
नष्ट कर देगा तत्पर जैसे
एक दिन कौओं को हम खिलाना चाहेंगे
कई-कई व्यंजन
और कौए हमें ही खा जाएंगे किसी जंगली
जानवर की तरह
एक दिन ऐसा अकसर होगा कि हम अपनी
निराशा को
कहीं किसी दूसरे स्थान पर धर भी आना चाहेंगे
तो धर नहीं पाएंगे
इसलिए कि हर दूसरा निराश आदमी अपनी
निराशा हमारे ही पास
बतौर अमानत रखकर अपनी निराशा से मुक्त
हो जाना चाहेगा।

प्यार करते हुए

एक स्त्री को प्यार करते हुए
मैंने जाना विस्मित
कि कोई बिना प्रेम किए
कैसे बरसों जी लेता है
उस स्त्री के प्यार में पड़कर
मैंने यह भी जाना
कि यह पृथ्वी भी तो
एक भरी-पूरी स्त्री ही है
यह पृथ्वी भी तो
उतनी ही सुंदर
उतनी ही मुलायम
उतनी ही बाकमाल
जैसेकि कोई स्त्री
फिर कोई
पृथ्वी से बिना प्रेम किए
कैसे गुज़र जाता है
किसी दूसरे स्वप्न-खंड में।

संपर्क : हुसैन कॉलोनी, नोहसा बाग़ीचा, नोहसा रोड, फुलवारी शरीफ़, पटना-801505 (बिहार)

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 72, अंक : 3, पूर्णांक : 855
जुलाई 2016, आषाढ़-श्रावण 1938

वरिष्ठ संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन

आवरण (अंतिम) : **आरती वर्मा** की कलाकृति
आवरण सज्जा : **राजेश कुमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com

website :
www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक आईडी :
www.facebook.com/
publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 230 रुपये, दो वर्ष: 430 रुपये,
तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
सहायक निदेशक प्रसार
पद्म सिंह
कमरा नं. 48-53, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई.मेल : pdjucir@gmail.com

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

पृष्ठ 1–60

इस अंक में

लेख

7. सोशल मीडिया के डिजिटल संस्कार — **जगदीश्वर चतुर्वेदी**

10. सोशल मीडिया और हाशिये का साहित्य — **सुनीता**

13. सामाजिक मीडिया और भाषा — **राहुल देव**

15. सोशल मीडिया और लोकप्रिय साहित्य ... — **प्रभात रंजन**

21. सोशल मीडिया : पाठकों की लोकतांत्रिक दुनिया — **सत्यानंद निरुपम**

23. पुरुषों की सोच का प्रतिबिंब है सोशल मीडिया (प्रख्यात लेखिका मैत्रेयी पुष्पा से बातचीत) — **कल्पना कुमारी**

25. बिखरती-सिमटती दुनिया ... (परिचर्चा) — **रमेश यादव**

29. लोकवृत्त का भावबोध और हिंदी सिनेमा — **आलोक रंजन पांडेय**

34. सोशल मीडिया और हिंदी साहित्य (परिचर्चा) — **अविनाश मिश्र**

38. सोशल मीडिया की साहित्य के प्रसार में भूमिका — **वीणा वत्सल सिंह**

39. स्त्री रचनाधर्मिता और सोशल मीडिया — **वंदना गुप्ता**

43. सोशल मीडिया में हिंदी ग़ज़ल — **मालिनी गौतम**

47. इक्कीसवीं सदी में संवेदना, प्रगति और सेल्फ़ी — **सरोज कुमार शुक्ल**

51. हज़रत अली — **प्रेमचंद**

55. संघर्ष का संगीत (संगीत आजकल) — **पं. विजयशंकर मिश्र**

कहानी

17. अपने हिस्से की पीड़ा — **संजीव ठाकुर**

49. वज़न — **मोहनदास नैमिशराय**

कविताएं/ गीत

28. दो कविताएं — **राजेश झरपुरे**

गीत — **सुभाष वसिष्ठ**

समीक्षा

56. अतीत की विरासत का अधुनातन आख्यान — **प्रभाकर पाठक**

मानवता को परिभाषित करती संवेदनाएं — **अशोक मनोरम**

देशप्रेम से महकता अमलतास — **उमा साह**

आवरण-II चार कविताएं — **शहंशाह आलम**

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कांप्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ :** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना :** बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुंबई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलूरू:** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **हैदराबाद :** कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुडा-500080, **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650, **गुवाहाटी :** पेंशन पारा रोड, हाउस नं. 4, पी.ओ. शिलपुकरी-3

प्रसंगवश...

साहित्य के क्षेत्र में सोशल मीडिया एक ऐतिहासिक परिघटना है। इसने हिंदी साहित्य, समाज और पत्रकारिता को एक सर्वथा नया और व्यापक कैनवास प्रदान किया है जिस पर कोई भी व्यक्ति अपने मनवांछित रंग भर सकता है; इच्छित चित्र उकेर सकता है। लेखक-साहित्यकारों के लिए यह अपना अनुभव, भावनाएं और संवेदनाएं एक बृहत्तर लेखक-पाठक बिरादरी तक पहुंचाने का माध्यम बना है।

दिन और बरस के लिहाज़ से सोशल मीडिया कोई बहुत पुरानी चीज़ नहीं है। अपनी बाल्यावस्था से निकल अब कहीं यह वयस्क हो रहा है। पहला इंटरनेट सॉफ्टवेयर 1991 में लांच हुआ और 1998 में सर्च इंजन गूगल की शुरुआत हुई। उसी वर्ष, एक महीने बाद, अक्तूबर 1998 में विश्व का पहला ओपन डायरी ब्लॉग जारी हुआ। सोशल मीडिया की शुरुआत यहां से हुई मानी जा सकती है। भारत में, विशेषतया हिंदी पट्टी में, इसके लोकप्रिय होने में कुछ वर्ष और लगे। तब तक फेसबुक का भी उदय हो गया।

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का उत्तरार्ध हिंदी ब्लॉग्स अथवा चिट्ठों का स्वर्णकाल था। इस अवधि में अनेक ब्लॉगिंग साइट्स अस्तित्व में आए जिन पर डाले जाने वाले पोस्ट्स की उनके पाठक बेसब्री से प्रतीक्षा करते। ये चिट्ठे साहित्यिक, वैचारिक विमर्श के केंद्र बने और उन्हें मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों पर भी जगह मिली। कुछ वर्षों के भीतर ही वीडियो साझा करने वाली वेबसाइट 'यू-ट्यूब' तथा सन् 2005 में अवतरित जातक 'फेसबुक' के क्रमशः लोकप्रिय होते जाने के साथ साहित्य व पत्रकारिता जगत का ब्लॉगिंग के प्रति रुझान कम होने लगा। 1999 में दैनिक पत्र 'नई दुनिया' के इंटरनेट संस्करण 'वेब दुनिया' से हिंदी वेब पत्रकारिता की शुरुआत हुई। इसके बाद साहित्य में रुचि रखने वाले उत्साही लोगों ने साहित्यिक वेब पत्रकारिता की शुरुआत की जो सिलसिला अब तक जारी है। आज अनेक वेब पत्रिकाएं तरह-तरह की रचनाएं प्रकाशित-प्रसारित कर रही हैं।

ट्विटर और इंस्टाग्राम सोशल मीडिया मंच पर तुलनात्मक रूप से और बाद में आए और अपनी सीमाओं के कारण अब तक साहित्य और विमर्श का स्वीकृत मंच नहीं बन पाए हैं। दूसरी तरफ फेसबुक के प्रवर्त्तकों द्वारा मोबाइल हैंडसेट्स को दृष्टिगत रखकर आरंभ किया गया 'व्हाट्स ऐप' लिखित और दृश्य-पाठ एक साथ साझा करने का सरल-सुगम माध्यम बनकर उभरा है।

हिंदी में सोशल मीडिया को लेकर परस्पर विरोधी विचार सक्रिय हैं। ज्यादातर समर्थ और स्थापित साहित्यकार आज भी सोशल मीडिया से अलग हैं। उन्हें यह व्यक्तिगत भड़ास निकालने और अनियंत्रित संवाद का मंच प्रतीत होता है जबकि इसके पैरोकार जो तुलनात्मक रूप से युवतर और अपनी पहचान बनाने के लिए प्रयासरत हैं, इसे भविष्य का माध्यम, हिंदी साहित्य को व्यापक और बृहत्तर पाठक समूह तक पहुंचाने, लेखक-पाठक के बीच संवाद कायम करने और निर्बाध रूप से अपनी रचनाएं पहुंचाने का माध्यम मानते हैं। ऐसे लोगों को अभिव्यक्ति का यह सीधा-सरल मंच सुलभ है जिसके परिणामस्वरूप हजारों की तादाद में नए लेखक-कवि हमारे बीच आ चुके हैं। इनमें न केवल हिंदी के, बल्कि विभिन्न अन्य विधाओं के जानकार और तकनीकी ज्ञान-संपन्न रचनाकार शामिल हैं। सोशल मीडिया इन नवोदितों का मंच है, उनकी रचनाओं को प्रसारित करने का मंच है। नए उभरे इस मीडिया ने न केवल साहित्य के स्थापित इजारों- पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशकों आदि द्वारा उपेक्षित किए गए रचनाकारों को मंच दिया है वरन समाज के दबे-कुचले और वंचित समूहों को भी अभिव्यक्ति का समर्थ उपकरण उपलब्ध कराया है। इसने स्त्री-लेखन को एक नया आयाम प्रदान किया है। संकोच अथवा भय से अपनी भावनाएं छुपाए रखने वाली स्त्रियां फेसबुक और ब्लॉग्स के माध्यम से यक-ब-यक सामने हैं।

लेखक-पाठक सोशल मीडिया के समर्थन अथवा विरोध में जो भी तर्क दें, इतना तो स्वीकार करना होगा कि इसने हमारे निजी जीवन, समाज और साहित्य में जिस तरह हस्तक्षेप किया है उसकी और अनदेखी नहीं की जा सकती। इसने संभावनाओं के नए द्वार खोले हैं। साहित्य का लोकतांत्रीकरण किया है। काग़ज़ की ख़पत रोकने और इस तरह पेड़ों को बेतहाशा कटने से बचाने की किंचित संभावना यहां बनती दीखती है। इससे जुड़े इन तथा इन जैसे अन्य विभिन्न पहलुओं का अध्ययन अब जरूरी हो गया है। ऐसे में यह देखना दिलचस्प होगा कि सोशल मीडिया के आने के बाद साहित्य की दशा-दिशा कितनी बदली है? संपादक नामक द्वारपाल के हट जाने के बाद कैसी और किस स्तर की रचनाएं प्रकाशित-प्रसारित की जा रही हैं? रचनाओं की भीड़ में कितनी ऐसी हैं जो सहेजे जाने योग्य हैं? क्या जो हमारे समय का श्रेष्ठ या बेहतर साहित्य है वह इस मंच के ज़रिए सुलभ हो पा रहा है? सोशल मीडिया के अत्यल्प समय में हुए प्रसार के मद्देनज़र क्या हम उसके समक्ष उपस्थित चुनौतियों से निबटने और इसमें निहित संभावनाओं को हिंदी साहित्य के लिए अवसर में बदलने के लिए तैयार हैं? प्रस्तुत अंक इन्हीं मुद्दों पर विचार करने का एक प्रयास है।



महत्वपूर्ण और सारगर्भित

● 'समकालीन रंगमंच परिदृश्य' पर विशेष अंक प्रकाशित करने के लिए हार्दिक बधाई!

पिछले चार दशक से 'आजकल' पढ़ रहा हूं। 'आजकल' ने कई सिनेमा विशेषांक प्रकाशित किए हैं जिनकी प्रतियां मेरे पास सुरक्षित हैं। बीच-बीच में 'रंगमंच' पर आलेख और कुछ रंगकर्मियों से बातचीत भी प्रकाशित हुए हैं लेकिन रंगमंच पर समग्र सामग्री पहली बार 'आजकल' में पढ़ने को मिली।

'समकालीन रंगमंच परिदृश्य' अंक में हिंदी रंगमंच के अंतर्द्वंद्व को रेखांकित करने की ईमानदार कोशिश की गई है। राजेश चंद्र, रवींद्र त्रिपाठी का लेख और मृत्युंजय प्रभाकर द्वारा आयोजित परिचर्चा ही नहीं वरन् सभी अन्य आलेख महत्वपूर्ण व सारगर्भित हैं। इस अंक में जिस तरह से पटना व देहरादून रंगमंच पर आलेख प्रकाशित किए गए हैं, दूसरे शहरों के रंग परिदृश्य पर नियमित अंकों में समय-समय पर आलेख प्रकाशित कर सकें तो बहुत अच्छा होगा। इस तरह तमाम प्रमुख शहरों का थिएटर पाठकों के सामने आ सकेगा। मैं लखनऊ के रंगमंच से विगत 45 साल से जुड़ा हूं।

-विवेक चटर्जी, इंदिरा नगर लखनऊ (उ.प्र.)

सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश

● 'समकालीन रंगमंच परिदृश्य' पर केंद्रित 'आजकल' का मई अंक अभूतपूर्व है। आवरण पर प्रकाशित भुनेश्वर भास्कर की कलाकृति 'इन टच विद द ट्रेडिशन' अच्छी लगी। राजेश चंद्र का आलेख 'समकालीन हिंदी रंगमंच के अंतर्द्वंद्व' वर्तमान रंगमंच परिदृश्य में उपस्थित बाधाओं और कठिनाइयों को स्पष्ट करता है। निस्संदेह, नाटक को बाज़ार के प्रभावों से बचाने के लिए सतत् प्रयास करते रहने की आवश्यकता है। रवींद्र त्रिपाठी का आलेख 'समकालीन रंगमंच में बहुस्तरीयता' समकालीन रंगमंच के सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। युवा रंगकर्मी अरविंद गौड़, मोहित टकलकर, प्रवीण कुमार गुंजन, फ़ायज़ इरानी, शिव प्रसाद तुमु इत्यादि के कार्य के बारे में पढ़कर भारतीय रंगमंच के अच्छे भविष्य की उम्मीद जगती है। प्रख्यात रंगकर्मी उमा झुनझुनवाला का 'नवजागरण काल में स्त्रियों की भूमिका' एक उम्दा आलेख है। कोलकाता रंगमंच के संदर्भ में समकालीन रंगमंच में स्त्रियों के योगदान को जानना-समझना एक विशेष अनुभव रहा। 'दस्तावेज़' के तहत प्रकाशित विश्व प्रसिद्ध रूसी रंगकर्मी स्तानिस्लाव्स्की को रेखांकित करता आलेख 'स्तानिस्लाव्स्की की देन' इस अंक की विशिष्ट उपलब्धि कही जा सकती है।

-नीरज कुमार झा, हरिहरपुर (बिहार)

ऐतिहासिक विवरणों से भरपूर

● 'आजकल' का मई 2016 अंक पढ़ा, पढ़कर मुग्ध हुआ। नाट्य साहित्य पर आधारित यह अंक रोचक तथा ऐतिहासिक विवरणों से भरपूर है, विशेषकर दयाप्रकाश सिन्हा के साथ राजीव आशीष का साक्षात्कार तथा वीरेंद्र नारायण और राजेश चंद्र का आलेख सराहनीय है।

-राधाकांत भारती, पीरागढ़ी, नई दिल्ली

वास्तविकता से अवगत

● 'आजकल' के मई 2016 अंक में राजेश चंद्र लिखित लेख 'समकालीन हिंदी रंगमंच के अंतर्द्वंद्व' रंगमंच एवं उनसे जुड़े लोगों की व्यथा को प्रदर्शित करते हुए समाज एवं सरकार को वास्तविकता से अवगत कराता है। आज वास्तविकता यह है कि लोगों का भटकाव हो गया है रंगमंच से। अब इसे निकृष्ट समझा जाता है। वास्तव में मानवता एवं नैतिकता का ह्रास इस तरह हुआ है कि समाज को आईना दिखाने वाला एवं उत्कृष्टता प्रदान करने वाला रंगमंच एवं रंगकर्मी आज उपहास का पात्र बन गया है। आज इसके बनावटी दिखावे पर पैसा पानी की तरह बहाया जाता है लेकिन इसको जीवंतता को बनाए रखने का उपाय तक धरातल पर नहीं है। आज लोग सिनेमा देखना चाहते हैं जो कि कृत्रिमता से परिपूर्ण होता है लेकिन वास्तविकता से पूर्ण नाटक जो कि रंगमंच पर रंगकर्मियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, उपेक्षित है। समझ में नहीं आता कि हम कहां जा रहे हैं! पहले दर्शक पात्रों का नज़दीक से अवलोकन कर उनसे अच्छी चीज़ें ग्रहण करते थे लेकिन अब नाट्यकर्मी का ही नाटक यानी तमाशा बना दिया गया है।

-केशव कुमार मिश्रा, मधुबनी (बिहार)

विलुप्त होने का ख़तरा

● 'आजकल' का मई अंक रंगमंच विशेषांक के रूप में पढ़ने को मिला। 'प्रसंगवश' में रंगमंच पर अच्छी जानकारी पढ़ने को मिली। लेख समकालीन रंगमंच में बहुस्तरीयता', 'रंगमंच और संगठन', 'भारत रंग महोत्सव : एक जायज़ा', 'ताल से ताल मिला रहा उत्तराखंड का रंगमंच' तथा 'परिचर्चा : समकालीन भारतीय रंगमंच का परिदृश्य' बेहद जानकारियों से भरा लगा।

आज नाटकों का मंचन कम होने से उनके विलुप्त होने का ख़तरा मंडरा रहा है। नाटक देखने वाले भी अब कम हो गए हैं। कभी उत्तर प्रदेश में 'बिदेसिया' नाटक का बोलबाला था, शादी-ब्याह में 'बिदेसिया' नाटक की हर जगह मांग थी मगर आज नाटकों को देखने वाले गिने-चुने लोग रह गए हैं। नाटकों को पुनः ज़िंदा करने की जरूरत है। वर्ना यह इतिहास बनकर रह जाएगा।

कहानी 'दुश्मन' बहुत अच्छी और मार्मिक लगी। विमल कुमार की कविताएं भी खूब पसंद आईं। 'आजकल' में चित्रों को रंगीन दिया जाए।

-बद्री प्रसाद वर्मा अनजान, गोरखपुर (उ.प्र.)

सुखद आश्चर्य

● मई अंक सराहनीय है। पहली बार किसी साहित्यिक पत्रिका में इतना गहरा, व्यापक, सूचनाप्रद रंगमंच, नाटक संबंधी जानकारियों के इतने उत्तम आलेख पढ़ने को मिले। मैं भी पचास वर्षों से नाटक से जुड़ा हूं और लिखता और मंचन करता हूं फिर भी इस अंक से कई नई दिलचस्प जानकारियों से अवगत हुआ। सुखद आश्चर्य! किसी एक लेख की तारीफ नहीं करूंगा क्योंकि पक्षपात होगा। सभी बेहतरीन हैं। शशिभूषण सिंहल की कहानी 'दुश्मन' अच्छी है किंतु इन आलेखों के बीच दब गई है।

- प्रमोद कुमार सिंह, बुद्धा कॉलोनी, पटना

संकीर्ण स्वार्थ की गाद

● मई 2016 अंक में 'समकालीन भारतीय रंगमंच' के विभिन्न पक्षों का व्यापक विश्लेषण किया गया। रंगमंच, कला का जीवंत रूप है जो आम जनमानस की संवेदनाओं व भावनाओं की अभिव्यक्ति बड़े ही सहज व सरल ढंग से करने में सक्षम होता है। यही कारण है कि रंगमंच सभी कलारूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। भारतीय समाज में लोक नाट्य के रूप में यह पुराकाल से अपनी प्रभावी उपस्थिति निरंतर बनाए हुए था और सामाजिक विसंगतियों पर अपनी तार्किक टिप्पणी के द्वारा जनमानस की चेतना को परिमार्जित भी कर रहा था लेकिन प्राय: यह असंगठित व अव्यवस्थित था। आधुनिक रंगमंच में तकनीक के व्यवस्थित प्रयोग से उसकी प्रस्तुति में व्यापक बदलाव आया है।

राजेश चंद्र, रवींद्र त्रिपाठी, उमा झुनझुनवाला, प्रज्ञा आदि के आलेख ज्ञानवर्द्धक व रुचिकर लगे। शशिभूषण सिंहल की कहानी 'दुश्मन' आत्मीय रिश्तों के दरकते और उनके बीच भरते संकीर्ण स्वार्थ की याद को बखूबी निरूपित करती है।

-मनोज कुमार वाजपेयी, रायबरेली (उ.प्र.)

परिवर्तन का दौर

● 'आजकल' का मई 2016 अंक में प्रकाशित आलेख 'समकालीन हिंदी रंगमंच के अंतर्द्वंद्व' ने मुझे विशेष प्रभावित किया। हिंदी रंगमंच आज परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है। हिंदी रंगमंच के पिछले पांच दशक अभिनय, निर्देशन, प्रस्तुति, तकनीकी पक्ष और दर्शक वर्ग सभी दृष्टियों से अभूतपर्व विस्तार और परिष्कार के दशक हैं। सातवें-आठवें दशक में अनेकानेक साहसिक प्रयोगों से रंगमंच के लिए जिस नए मुहावरे और नई रंगभाषा का विकास करने की कोशिश शुरू हुई उसका मकसद रंगमंच को मात्र मनोरंजन का माध्यम बनाए रखना नहीं बल्कि उसे मानवीय यथार्थ के अपरिचित धरातलों को पकड़ने का सार्थक माध्यम बनाना था।

अस्सी के दशक में खुद सरकार ने भी बड़े पैमाने पर कला और संस्कृति में केंद्रीय भूमिका निभानी शुरू की। सारे देश में नए संस्कृति केंद्र खोले। करोड़ों रुपये पानी की तरह बहा दिए गए पर वास्तव में रंगकर्मी को इन सब में नाटक करने की सुविधा नहीं मिली। दिल्ली सहित देशभर में बहुत बड़ी तादाद ऐसे रंगकर्मियों एवं नाटक दलों की है जिनके पास न तो नाटकों के पूर्वाभ्यास का कोई स्थान है और न ही प्रदर्शन की कोई सस्ती या उपयुक्त जगह। पर उन्हें इससे कोई सरोकार भी नहीं है। शंभू मित्र, उत्पल दत्त, बलराज साहनी, गुरुशरण सिंह, हबीब तनवीर, सफ़दर हाशमी तक चली आ रही परंपरा कल किसी और नौजवान की आंखों में भी होगी। ऐसे बहुत सारे समूह और लोग हैं जो पटना, भागलपुर, बेगूसराय, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, आज़मगढ़, कानपुर, भोपाल, उज्जैन, चंडीगढ़, कुरुक्षेत्र से लेकर देश के सुदूर इलाकों, गांवों-कस्बों में काम कर रहे हैं और गुमनाम रहकर रंगकर्म के लिए अपनी ज़िंदगी न्योछावर की है और कर रहे हैं।

-अशोक कुमार ठाकुर, दरभंगा (बिहार)

रंगमंच में बदलाव

● भारतीय समाज में अभिनय और रंगमंच का इतिहास बहुत प्राचीन रहा है। भारत का कोई भी क्षेत्र हो महाराष्ट्र, बंगाल, राजस्थान, बिहार, ओड़िशा या गुजरात वहां के रंगकर्मी अपने अभिनय में अपने क्षेत्र की कला, साहित्य, लोकगीत, लोकनृत्य, वीरगाथा तथा आम जीवन को संवर्धित, संरक्षित और अभिमंचित करते रहे हैं।

हमारे ये लोकरंगकर्मी जो दुर्गा पूजा या रामनवमी पर गांवों के दर्शकों के सामने अपने सहज अभिनय से नाट्य किरदारों को जीवंत कर देते थे, वे किसी नाट्य संस्थान में प्रशिक्षित नहीं होते थे, उनके लिए हमारी संस्कृति और समाज ही नाट्य विद्यालय और रंगमंच था। उनके पास आधुनिक वेशभूषा भी नहीं होते थे और न ही उन्होंने कभी नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया किंतु सही मायनों में वे लोग ही रंगकर्मी थे जिनके अभिनय में अपनी मिट्टी की गंध रची-बसी होती थी और आने वाली पीढ़ी को ये कला वे विरासत के रूप में सौंपते थे।

वक्त बदला और इन बदलावों से रंगमंच भी अछूता नहीं रहा। रंगमंच, रंगकर्म और रंगकर्मी की परिभाषाएं बदल गईं, ग्राम्य परिवेश और आमजन के बीच पनपी, फलती-फूलती ये नाट्य कला आज मात्र ऑडिटोरियम की वस्तु बनकर रह गई है। रंगमंच के ग्राम्य परिवेश से पलायन का परिणाम यह हुआ कि उसके साहचर्य में पोषित अन्य लोक-कलाएं भी विलुप्त होती चली गईं। ऐसी विपरीत परिस्थिति में 'आजकल' द्वारा प्रस्तुत नाटक विशेषांक देखकर हार्दिक खुशी हुई।

विमल कुमार की लंबी कविता 'मुक्ति का अभिनय' जीवन में नाटक और नाटक में जीवन की उपस्थिति को अभिव्यक्त करती है। मजीद अहमद द्वारा त्रिपुरारि शर्मा से साक्षात्कार बहुत अच्छा लगा। स्त्री-विमर्श को त्रिपुरारिजी ने बड़े सटीक शब्दों में व्याख्यायित किया है।

-अमृता झा, हरिहरपुर (बिहार)

सोशल मीडिया के डिजिटल संस्कार

फोटोग्राफ़ी, डिजिटल तकनीक और विज्ञापनों के दबाव ने हमारे चेहरे-मोहरे सब बदल दिए हैं। ख़ासकर नकली शरीर और नकली शक्ल की जो संस्कृति पैदा हुई है उसने असली चेहरे और असली शरीर का बोध ही खत्म कर दिया है। सवाल यह है कि नकली शक्ल और नकली त्वचा से हमारे नकली विचारों और व्यवहार का संबंध भी बन रहा है क्या? चर्चा कर रहे हैं **जगदीश्वर चतुर्वेदी**



फेसबुक पर अश्लील वीडियो पोस्ट करने, अश्लील गालियां लिखने, महिलाओं के प्रति अशालीन आचरण करने की संख्या बढ़ रही है। कायदे से फेसबुक प्रबंधकों को अश्लील, अपमानजनक भाषा और सामग्री आदि को निजी पहल करके सेंसर करना चाहिए। अश्लील-कामुक सामग्री और गालियां फेसबुक की आचारसंहिता का उल्लंघन है। सभी यूज़रों को अश्लील भाषा और कामुक सामग्री के फेसबुक पर प्रचार-प्रसार का विरोध करना चाहिए। फोटोग्राफ़ी, डिजिटल तकनीक और विज्ञापनों के दबाव ने हमारे चेहरे-मोहरे सब बदल दिए हैं। ख़ासकर नकली शरीर और नकली शक्ल की जो संस्कृति पैदा हुई है उसने असली चेहरे और असली शरीर का बोध ही खत्म कर दिया है। सवाल यह है कि नकली शक्ल और नकली त्वचा से हमारे नकली विचारों और व्यवहार का संबंध भी बन रहा है क्या? उल्लेखनीय है कि भारत के मीडिया और सोशल मीडिया में बेरोज़गारी, निरुद्योगीकरण और किसानों की बदहाली पर न्यूनतम कवरेज है। मीडिया से लेकर इंटरनेट तक सेलीब्रिटी चेहरे, फिल्म-टीवी, क्रिकेट आदि का ज्यादा कवरेज है। यह वस्तुत: डिजिटल संस्कृति है। इससे राजनैतिक अचेतनता बढ़ती है।

सोशल नेटवर्क और खासकर फेसबुक को जो लोग आज़ादी का मंच समझ रहे हैं वे ग़लतफ़हमी के शिकार हैं। फेसबुक का अमरीकी सत्ता प्रतिष्ठानों, जैसे सीआईए, एफबीआई आदि से याराना है, वे सभी फेसबुक प्रयोक्ताओं की नज़रदारी कर रहे हैं, अब इसी पैटर्न पर यहां भी नज़रदारी हो रही है। फेसबुक प्रयोक्ता शालीनता, लोकतांत्रिकबोध और परिपक्व नागरिक की तरह इस माध्यम का इस्तेमाल करें।

हमारे समाज में मध्यवर्ग के एक बड़े तबके में फ़ैशन की तरह वैश्वीकरण का प्रभाव बढ़ा है, सरकार की नीतियों में वैश्वीकरण का अंधानुकरण चल रहा है, यहां तक कि अब तो वे लोग भी वैश्वीकरण के पक्ष में बोलने लगे हैं जो कल तक उसका विरोध करते थे, ऐसे विचारकों और राजनैतिक कार्यकर्ताओं की तादाद तेज़ी से बढ़ रही है, वे यह कह रहे हैं कि पूंजीवाद का अब कोई विकल्प नहीं है, वैश्वीकरण के तर्कों को मानने के अलावा और कोई विकल्प नहीं हैं। यही स्थिति ग्लोबल मीडिया चैनलों की है, उनके उपभोक्ताओं में किसी भी किस्म का प्रतिवाद का स्वर दिखाई नहीं देता बल्कि उल्टे राजनैतिक हल्कों में ज्यादा से ज्यादा चैनल और अख़बार समूहों को अपने राजनैतिक रुझान के पक्ष में करने की होड़ चल निकली है।

समग्रता में देखें तो फेसबुक पर हम असहिष्णु समाज बना रहे हैं? सामान्य तौर पर कम्युनिकेशन सहिष्णु बनाता है लेकिन फेसबुक ने यूज़र के अवचेतन को जगाया है। अवचेतन में पड़ी घृणा, गंदगी, अश्लीलता आदि को अभिव्यक्त करने का सहज मौका दिया है। हमें सोचना चाहिए कि चेतन मन को जगाते हैं या अवचेतन मन को? फ़िलहाल तो अवचेतन की हवा बह रही है। संचार के लिए चेतनमन सक्रिय रहे तो सुरक्षा है वरना ख़तरे ही ख़तरे हैं।

सोशल मीडिया में सबसे पहले सरकार को पोर्न सामग्री के वितरण पर पाबंदी लगानी चाहिए। पोर्न दिखाना-बेचना अपराध है। इसके सामाजिक दुष्प्रभावों पर सारी दुनिया में बहस हो रही है लेकिन सरकार और उसके विरोधी दल पोर्न के मामले पर चुप हैं। महिला संगठन भी चुप्पी लगाए हुए हैं। इंटरनेट पर आपत्तिजनक सामग्री की निगरानी को लेकर जारी विवाद के बीच नामी सर्च पोर्टल गूगल ने अपनी पारदर्शिता रिपोर्ट में जनवरी 2011 से लेकर जून 2011 के बीच सामग्री हटाने की सिफ़ारिशें जारी हैं। गूगल ने बताया है कि इस अवधि में सरकार ने उससे 358 आइटम और 68 कंटेंट हटाने की मांग की थी जिसमें से कंपनी ने 51 फीसदी मांगों को आंशिक या पूरे तौर पर मान लिया था।

गूगल ने बताया, 'राज्य और स्थानीय कानून प्रवर्तन एजेंसियों ने हमसे सामाजिक नेताओं के विरोध में प्रदर्शन, आपत्तिजनक भाषा वाले वीडियो यू ट्यूब से हटाने के लिए कहा था। हमने इनमें से ज्यादातर वीडियो हटाने से मना कर दिया था और महज़ उन्हीं वीडियो को हटाया था जिनके कारण समुदायों में रंजिश बढ़ने की आशंका थी।

सोशल मीडिया के नियंत्रण के बारे में केंद्र सरकार की चिंताएं अन्ना आंदोलन के समय सामने आ गई थीं। यह एक तरह से सोशल मीडिया की संचालक कंपनियों को धमकी है कि 'सावधान रहो अपने दायरे के बाहर मत जाओ।' इसके बावजूद हम यह कहना चाहेंगे कि हमारे फेसबुक बंधुओं को शालीन भाषा, सभ्य राजनीति और संस्कृति के नए मानकों को बनाना चाहिए। फेसबुक पर गली-मोहल्लों की भाषा, ख़ासकर गाली-गलौज की भाषा से बचना चाहिए।

फेसबुक पर यूजर्स की निजी सूचना निकालने और उसे विज्ञापनदाताओं को 'बेचने' का आरोप है और इस मुद्दे पर उसे यूरोप में कार्रवाई का सामना करना पड़ रहा है। 'संडे टेलिग्राफ' की एक रिपोर्ट के अनुसार, फेसबुक अपने यूजर्स के राजनैतिक विचार, लैंगिक पहचान, धार्मिक आस्थाएं और यहां तक कि उनका अता-पता भी जमा कर रही है। यूरोपीय आयोग इस

मुद्दे पर कार्रवाई करने की योजना बना रहा है। रिपोर्ट में दावा किया गया है कि लोग चाहे अपना 'प्राइवेसी सेटिंग' कुछ भी रखें, फेसबुक अत्याधुनिक सॉफ्टवेयर का उपयोग कर सोशल नेटवर्किंग साइट पर लोगों की गतिविधियों की सूचना जमा कर रही है और उसे विज्ञापनदाताओं को उपलब्ध करा रही है। रिपोर्ट में कहा गया है कि यूरोपीय आयोग 2012 जनवरी में एक नया निर्देश जारी करने वाला है जिसमें इस तरह के विज्ञापन पर प्रतिबंध लगाने का प्रावधान है।

दूसरे उद्योगों की तरह भारतीय दूरसंचार के आंकड़े भ्रमित करने वाले हैं। देश में 85 करोड़ से अधिक पंजीकृत मोबाइल नंबर हैं पर स्पेक्ट्रम आबंटन का ढांचा सेवा प्रदाताओं के लिए इनकी संख्या बढ़ाने में मदद करता है। इसमें से एक तिहाई नंबर ऐक्टिव नहीं हैं। बाकी बचे नंबरों में से भी कई उन ग्राहकों के नाम पर पंजीकृत हैं जो ऑफिस या निजी इस्तेमाल के लिए अलग-अलग नंबर रखते हैं। पिछले कुछ वर्षों से लगातार प्रति ग्राहक औसत राजस्व घटा है। इस कारण से सेवा प्रदाताओं का मुनाफ़ा भी कम हुआ है। हर सर्किल में दर्जनों टेलीकॉम सेवा प्रदाता कंपनियां हैं। इनमें से कुछ ही पैसा बना पाती हैं और नई कंपनियां तो अब तक अपने निवेश का बड़ा हिस्सा तक नहीं वसूल पाई हैं। इस बदहाल अवस्था के बाद तो दूरसंचार क्षेत्र के निजीकरण को यहीं रोकना चाहिए।

सीईए के साथ समझौते और तकनीकी सहमेल के कारण फेसबुक अपने यूज़र की प्राइवेसी में हस्तक्षेप और ताक-झांक कर रहा है। फेसबुक अधिकारियों के अनुसार फेसबुक अपने यूज़र के लॉग ऑफ करने के बाद भी इस बात पर नज़र रखता है कि उसके यूजर्स कौन सी वेबसाइट विज़िट कर रहे हैं।

चीन में इंटरनेट के 50 करोड़ के करीब यूज़र हैं और सबसे शक्तिशाली इंटरनेट सेंसरशिप भी है। सर्वसत्तावादी एकतंत्र में यह व्यवस्था बेहद परेशानी खड़ी करने वाली है। नव्य आर्थिक उदारीकरण और विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के दायरे में आने के बावजूद वहां पर इंटरनेट सेंसरशिप में कोई ढील नहीं आई है। कायदे से उसे अपने सिस्टम को और उदार बनाना था लेकिन उन्होंने नहीं किया। चीन पर विश्व जनमत का भी कोई दबाव नहीं है। इसका अर्थ यही है कि लूट की उदारता में चीन हिस्सेदार है, लोकतांत्रिक छूट देने के मामले में चीन आज भी कंज़रवेटिव है। चीन का मॉडल है राजनीति में सर्वसत्तावाद, आर्थिक क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कारपोरेट तंत्र, उपभोक्तावाद और सख्त सेंसरशिप।

भारत में फेसबुक और इंटरनेट पर साइबर हैकरों के हमले बढ़ गए हैं। अभी तक भारत फेसबुक संतों की शांत रमणस्थली था लेकिन विगत कुछ समय से साइबर अशांति की ख़बरें आ रही हैं। भारत सरकार के संस्थानों की वेबसाइट हैक करके नकली लोग अन्य देशों की वेबसाइट पर हमले कर रहे हैं। इसी तरह फेसबुक को बाज़ार में डाउन करने के लिए नए तरीकों से पोर्न सामग्री फेसबुक पर भेजी जा रही है। साइबर हैकरों की इन शैतानियों के प्रति सजगता जरूरी है। इस विषय पर फेसबुक दोस्तों को अपनी वॉल पर लिखना चाहिए। भारत में संचार क्रांति के दुरुपयोगों के प्रति सचेतनता बढ़ रही है। इंटरनेट, फेसबुक, सोशल साइट, ब्लॉग आदि पर अपमानजनक बातें लिखने वालों के प्रति अब आम यूज़र सचेत हो रहा है। इस सचेतनता के कारण ही एक युवक को एक लड़की के प्रति अपमानजनक और अशालीन बातें नेट पर लिखने के लिए अदालत ने 20 हज़ार रुपये का जुर्माना लगाया है। आप भी आईटी अधिनियम के प्रति जागरूक बनें ।

इंटरनेट और कंप्यूटर का ज्यादा उपयोग स्मृति में संचित करने की दिशा बदल सकता है। आमतौर पर अभी वैज्ञानिक नहीं जानते कि इससे मनुष्य की स्मृति का क्षय हो रहा है या स्मृति समृद्ध हो रही है लेकिन मन के बाहर जो चीज़ संग्रहीत करना चाहते हैं उसके लिए इंटरनेट और कंप्यूटर सुंदर माध्यम और संग्रहशाला हैं। मनुष्य का दिमाग़ इस मीडियम की संगति में धीरे-धीरे बदल रहा है।

दूसरी ओर सीआईए ने फेसबुक और ट्विटर पर निगरानी तेज़ कर दी है। वे विभिन्न देशों में चल रही राजनैतिक और अन्य किस्म की गतिविधियों पर गहरी नज़र रखे हैं। इसके आधार पर वे अपने रणकौशल को भी बदल रहे हैं, साथ ही प्रयोक्ताओं का व्यापक प्रोफाइल भी बना रहे हैं। यह प्रयोक्ताओं की निजता का उल्लंघन है ?

इंटरनेट आने के बाद से ऑनलाइन छेड़खानी, उत्पीड़न और अपमान की घटनाओं में इज़ाफ़ा हुआ है। मसलन, आस्ट्रेलिया में 2008 में की गई रिसर्च में पाया कि 42 प्रतिशत युवाओं को ह्रासमेंट का सामना करना पड़ा। एक अन्य सर्वे में 36 फीसद लड़कियों और 32 फीसद लड़कों ने ह्रासमेंट की शिकायत की। ऑनलाइन ह्रासमेंट की घटनाओं से भारत में भी एक बड़ा तबका परेशान है लेकिन अभी तक ऑनलाइन ह्रासमेंट की सटीक अवधारणा विकसित नहीं हो पाई है ।

फेसबुक के 80 करोड़ प्रयोक्ता हैं और उसकी विज्ञापनों से इस साल 4.27 बिलियन डालर की आमदनी हुई है जो उसकी सकल आय का 85 फीसदी है। ऐसे में फेसबुक पर मासिक शुल्क लेने की अफ़वाह उसके प्रतिद्वंद्वी सोशल मीडिया साइट के लोगों ने ही उड़ाई है। फेसबुक पर जो लिखा जाता है उस पर सहज में विश्वास न करें। उसकी अन्य स्रोतों से पुष्टि करें। फेसबुक पर अफ़वाहें भी चलती हैं।

फेसबुक पर कभी आर्थिक तबाही के घटनाक्रमों पर मित्र लोग बहस क्यों नहीं करते ? क्या भारत में आर्थिक खुशहाली आ गई है? क्या मंदी की मार के सवाल सताते हैं ? सवाल यह है कि फेसबुक को हम भारत की मूल समस्याओं का मंच क्यों नहीं बना पाए हैं ?

फेसबुक पर कुछ ऐसे लोग सक्रिय हैं जो फेसबुक और चैटिंग के बहाने मोहित करते हैं। वर्चुअल प्रेम में फंसाते हैं और अंत में गहरी निराशा और हताशा में धकेल देते हैं। आज इनके शिकार एक युवा ने फेसबुक से विदा ले ली। कहने का अर्थ है फेसबुक पर वर्चुअल लोगों से चैटिंग ओर वर्चुअल प्रेम न करें। यह आत्मघाती है।

नए साइबर ज़माने के युवाओं में लोकतांत्रिक प्रतिवाद की आकांक्षाएं कम हैं। वह समाज से विच्छिन्न है और पूरी तरह मोबाइल और सोशल नेटवर्किंग से संबद्ध है। इस युवा की मनोसंरचनाएं उपभोग, अकेलेपन, क्षण में पाने की आकांक्षा और प्रतिहिंसा ने निर्मित की है।

इंटरनेट महान है, फेसबुक महानतम है और लुढ़कता बाज़ार तथा आर्थिक मंदी इन सबसे महान है। संचार क्रांति और भूमंडलीकरण जिस स्वर्ग का सपना लेकर आए थे वहां इन दिनों वैचारिक-सांस्कृतिक सन्नाटा पसरा हुआ है। हमारे दोस्त इन सब सवालों पर चुप हैं। क्या ये सवाल बहस के लायक नहीं हैं?

फेसबुक तो स्वर्ग की इंद्रसभा है। इसमें सुख है, आनंद है, विचार है, अमरता है, गान, संगीत, नृत्य, चित्र, मित्र सब हैं, इंद्रसभा की तरह यहां रसोई, खाना, महंगाई, मंदी, राक्षस, पति, पत्नी, संतान, समाज आदि की चिंता नहीं है। यहां सिर्फ रस, आनंद और अभिव्यक्ति है। यह सुखियों का संसार है। फेसबुक क्षणिक और अधूरी अभिव्यक्ति का माध्यम है। फेसबुक सिरपड़ों का खेल है, यहां अपरिचय के परिचय, बिना दीवार के वॉल, बिना स्याही-काग़ज़ का लेखन, मुंह देखी मीठी बातें और खोखली प्रशंसाओं की लंबी सूची, सूचनाओं का ढेर, बिना मांगे उपदेश, मज़े की बातें, बोरिंग बातें, विज्ञापन और नकली व्यक्तिवाद का खोखला तांडव और फेसबुक का अरबों का धंधा। फेसबुक में स्वर्ग और नरक भी है, स्वर्ग में उत्तर अमरीका है। वहां की 41 प्रतिशत आबादी ऑनलाइन है । नरक में विश्व की बाकी आबादी है जिसमें मात्र 10 प्रतिशत लोग ऑनलाइन हैं। अफ्रीका की मात्र एक प्रतिशत आबादी ऑनलाइन है। ऑनलाइन स्वर्ग है और जो लाइन में हैं वो नरक में हैं। फेसबुक पर कुछ लोग हैं जो 11 बजे के बाद अवतरित होते हैं।

परवर्ती पूंजीवाद में सबसे बड़े किराए वसूलने वाले कारपोरेट घराने हैं। वे केबल टीवी से लेकर डीटीएच तक, इंटरनेट से टेलीफोन तक, डिस्नी लैंड से लेकर साइंस सिटी तक आम जनता से आनंद और कम्युनिकेशन के बदले किराया वसूलते हैं। यह किराया ही मोनोपोली कैपीटलिज्म के मुनाफ़े और आनंद का मूल स्रोत है। क्या इसके बाद भी हमें पूंजीवाद से प्यार करना चाहिए ?

पूंजीवाद में कोई भी संचार नि:शुल्क में नहीं होता। दूरसंचार-मीडिया के इजारेदार घरानों की मुनाफ़ाख़ोरी के बिना नहीं होता। मसलन फेसबुक, ब्लॉग आदि इंटरनेट संचार के लिए हम किराया देते हैं। दूरसंचार मुगल इस किराए से अमीर बनते हैं। यह परवर्ती पूंजीवाद का किराए का संचार है और इसी अर्थ में बुर्जुआ संचार है।

फेसबुक के मित्र किस विचारधारा के हैं, यह जानने का आसान तरीका है कि वे किन विषयों पर वॉल पर लिखते हैं, किन विषयों पर अन्यत्र जाकर पढ़ते हैं और आमतौर पर उनकी किस तरह के राजनैतिक-आर्थिक सवालों में रुचि रखते और टिप्पणी करते हैं? सवाल यह है कि क्या फेसबुक विचारधारारहित संचार है? फेसबुक पर शिक्षित युवा और अधेड़ आमतौर पर जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वो प्रतिगामी भाषिक-सांस्कृतिक मनोदशा की अभिव्यक्ति है। ये, नकली फोटो लगाना, ग़लत सूचनाएं देना, विभ्रम की बातें करना, अश्लील भाषा या द्वयर्थक भाषा में लिखना, चोट करते हुए किसी भी लिंक को भेज देना आदि।

इंटरनेट पर सत्ता की नज़रदारी लगातार बढ़ रही है। लैटिन अमरीका में इंटरनेट को राजनैतिक औज़ार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। प्रतिवादियों पर नज़र रखी जा रही है, उन पर नियंत्रण लगाया जा रहा है। पेरू से लेकर बोलविया तक इंटरनेट की नज़रदारी हो रही है। ईमेल, फेसबुक, ब्लॉग, ई मूवमेंट आदि पर विभिन्न तरीकों से नज़र रखी जा रही है। यह नेट निजता का अंत है।

इंटरनेट और कंप्यूटर का ज्यादा उपयोग स्मृति में संचित करने की दिशा बदल सकता है। आमतौर पर अभी वैज्ञानिक नहीं जानते कि इससे मनुष्य की स्मृति का क्षय हो रहा है या स्मृति समृद्ध हो रही है लेकिन मन के बाहर जो चीज़ संग्रहीत करना चाहते हैं उसके लिए इंटरनेट और कंप्यूटर सुंदर माध्यम और संग्रहशाला है। मनुष्य का दिमाग़ इस माध्यम की संगति में धीरे-धीरे बदल रहा है।

यह संचार क्रांति की आज़ादी के अंत की बेला है। संचार क्रांति ने जिस तरह की स्वतंत्रता और निजता का आरंभ में वायदा किया था उसका धीरे-धीरे अंत हो रहा है। आम लोगों की निजता को नियंत्रित और नियोजित किया जा रहा है। बेहतर है नेट की दुनिया में हम अपने निजी पत्ते न खोलें।

साइबर सांड मात्र शब्दों से ही अपमानित नहीं करते वे इलैक्ट्रोनिक तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। मसलन वे किसी को अपमानित या परेशान करने के लिए गंदे, अश्लील वीडियो फेसबुक की वॉल पर लगा देते हैं। अपमानजनक एमएमएस या ईमेल करते हैं। अपमानजनक या निगेटिव साइबर टेक्स्ट भेज देते हैं।

इसका पहला तरीका है आघात पहुंचाना, अपमानजनक भाषा का इस्तेमाल करना, अश्लील भाषा का इस्तेमाल करना। परेशान करना। जो व्यक्ति इस तरह की भाषा का प्रयोग कर रहा है वह कितनी बार दोहराता है अपने व्यवहार को, महीने में एक बार, दो बार, तीन बार या रोज़। इससे आप उसके असंतुलन का अंदाज़ा सहज ही लगा सकते हैं। साइबर सांड मूलत: सामाजिक जीवन में मौजूद दादागिरी का ही साइबर रूप है। साइबर सांड ज्यादातर वे युवा और तरुण हैं जो एडजेस्टमेंट प्रॉब्लम के शिकार हैं। इसे साइबर भाषा में जोखिम वाले समूह में रखा जाता है और ये लोग भिन्न किस्म के व्यवहार की मांग करते हैं। साइबर पंगेबाज़ को साइबर बैल कहना ज्यादा सही होगा। वे अपनी नकारात्मक हरकत को बार-बार दोहराते हैं। साइबर स्पेस में किया गया एक नकारात्मक एक्शन दूरगामी असर छोड़ता है। नकारात्मक हरकत की पुनरावृत्ति तुरंत प्रतिक्रिया पैदा कर सकती है। साइबर पंगेबाज़ कैसे लोग होते हैं, किस उम्र के होते हैं, उनके पंगा लेने का तरीका, वे साइबर संचार में कैसे परेशान करते हैं? इसे साइबर दुनिया में 'बांस करना है' भी कहते हैं। पश्चिम में इसमें ज्यादातर 10-18 साल की उम्र के तरुण आते हैं। भारत में ऐसे लोगों में वयस्कों की संख्या ज्यादा है। इन लोगों का काम है नेट, फेसबुक, ब्लॉग, ईमेल, चैट आदि के ज़रिए आघात पहुंचाना। ये नकारात्मक गतिविधियों में ज्यादा रहते हैं।

नेट पर किए गए अनेक अनुसंधान बताते हैं कि जो ज्यादा चैट, ईमेल और खरीददारी करते हैं, उनमें अवसाद के लक्षण ज्यादा होते हैं। ताइवान के कॉलेज छात्रों में किए अध्ययन से पता चला है कि इंटरनेट की लत का पढ़ाई, दैनिक रूटीन पर असर होता है जिनको लत है वे अवसाद में कष्ट पाते हैं। फेसबुक की बढ़ती आदत ने अमरीकी तरुणों की स्कूली पढ़ाई को प्रभावित किया है। इंटरनेट में उन्हीं प्रयोक्ताओं के साथ दुर्व्यवहार या एब्यूज की घटनाएं देखी गई हैं जिनमें आमने-सामने बात करने की क्षमता का अभाव होता है अथवा जो अवसाद में रहते हैं। शोध में पाया गया है कि इंटरनेट यूज़रों में जो अकेलेपन में नहीं हैं वे भावनात्मक सहयोगी की तलाश में नेट पर आते हैं। ऑनलाइन मित्र यहां ऑफलाइन मित्रों से मिलकर संतोष पाते हैं। इस तरह के यूज़र भी हैं जो मनोव्यथाओं के शिकार हैं और अपनी व्यथा का समाधान खोजने आते हैं। इनमें बेचैनी, अवसाद और आत्मविश्वास की कमी देखी गई है।

सन् 1990 के आसपास जब इंटरनेट का चलन तेज़ हुआ तो उस समय इसे लेकर भय और उत्साह का भाव था। आरंभ के शोध बताते हैं कि इंटरनेट के उपयोग ने अकेलेपन, अवसाद और तनाव में वृद्धि की। नेट विशेषज्ञों का मानना है कि संचार की नई तकनीक के कारण हठात् कम्युनिकेशन

पृष्ठ 22 पर जारी

सोशल मीडिया और हाशिये का साहित्य

सोशल मीडिया एक सामयिक विचार है जो एक प्रकार की ऐतिहासिक परिघटना के रूप में सामने आया है। इसने हमारे समाज और निजी जीवन में जिस तरह का हस्तक्षेप किया है, उसे देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि इसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाए। सोशल मीडिया समाज के पारंपरिक ढांचे को पूरी तरह से बदल रहा है, चर्चा कर रही हैं **सुनीता**

'साहित्य के लिए हमें पुस्तकों तक जाना पड़ता है, पत्रिकाएं उन्हें हम तक लाती हैं, बहसें और सूचनाएं देती हैं।' 'सर्वोत्तम पत्रकारिता साहित्य है और सर्वोत्तम साहित्य पत्रकारिता है।' समय बदला, कहन के अंदाज़ बदले, साहित्य के तेवर और सरोकार भी बदल गए। भूमंडलीगत विकासवादी स्थितियों ने नए कलेवर का चोला धारण कर लिया। छाप-छपाई, रची-रचाई दुनिया में 'ग्लोबल' और 'ग्लोकल' दोनों ही तरह के परिवर्तन की प्रतिध्वनि सुनी जाने लगी। देश-दुनिया के नक्शे पर चमचमाती तस्वीर पेश होने लगी। इनके बीच से उभरा समाज इनके साथ कदमताल करने में अक्षम रहा क्योंकि हाशिये का समाज आधुनिक विकास के दौर में भी हाशिये पर ही है। उसके सपने, उसकी संवेदना, उसके दर्द, उसके आंसू, उसकी रोटी, उसका जीवन सब कुछ घिस-घिस कर पलिहर का बनार सरीखा ही देखने को मिला। मशीन का नाम-पता हो गया लेकिन मशीन से मशीन तक की दूरी बरक़रार है।



न्यू मीडिया के संसाधनों ने बहुत कुछ मुहैया करा दिया लेकिन हाशिये का हिस्सा आज भी कुफ़र, कुढ़न, कुंठित, दबा-कुचला और मुख्यधारा से परे है। कलम के पागलपन में बहुतेरे नए आयाम जुड़ चुके हैं। पांच हजार से भी अधिक नए लेखकों की फ़ौज सामने है। अभिव्यक्ति को मंच सीधे-सीधे उपलब्ध है जिसकी पहुंच रवि और कवि सरीखी है, बावजूद इसके हाशिये के लोग छटपटाती आंखों, व्याकुल सपनों, भीगे अरमानों और मुख्यधारा से दूर बने रहने की सज़ायाफ़्ता समय में जी रहे हैं जिनके बारे में बातें कम ही लिखी, पढ़ी, गढ़ी और लड़ी जा रही हैं। इस बहेलिया समय में सोशल माध्यम से मुट्ठीभर कलमकार हैं जिनकी कलम समय के बदलने की बात उस तबके के लिए नर्म गोशा महसूस करती है। चिंगारी उगलती कलम का स्थान 'पॉपुलर लिटरेचर' ने ग्रहण कर लिया है। इस पॉपुलर की फ़ेहरिस्त इतनी लंबी है कि नाम लिखते-लिखते स्थान चुक जाएगा।

सोशल माध्यमों में साहित्य की स्थिति और दुर्गति दोनों ही चर्चा का विषय है। रातोंरात साहित्यकार की श्रेणी में खड़े होने वाले अगले ही दिन चोरी के शब्द, बिंब, भाव, अभिव्यक्ति और मंच के नाम से नवाज़े जाने लगते हैं। ऐसे में वह दौर बरबस याद हो आता है जिस वक्त साहित्य के लिए गुटबाज़ी, गिरोहबाज़ी जैसे हालात नहीं थे। अगर कुछ था तो केवल सृजन, सरोकार और सुखानंद की अनुभूति थी। 'स्वांत: सुखाय' की भावना बेहद प्रबल थी। आज लगता है कि अमीर खुसरो, तानसेन, कबीर, सुर और तुलसी सहित लंबे समय तक प्रचार-प्रसार का कोई प्लेटफार्म नहीं होने के बावजूद साहित्य रचने वाली पीढ़ियों को उनके लिखे के ज़रिये हमसब आत्मसात करते हैं। जितने वह पॉपुलर हैं आज के दौर के लेखक के संदर्भ में ऐसा कहना अनुचित सा लगता है। आज के लेखक सुबह उठान पर, दोपहर उबाल पर, शाम को ढलान पर और रात्रि होते-होते उसका नामोनिशान ही मिट जाता है।

मौजूदा दौर की साहित्यिक पत्रकारिता अपने पथ से विगलित हो गई है। सब कुछ बाज़ार पर निर्भर होता जा रहा है जिसमें उपभोक्ता की स्थिति बदल रही है। व्यवसाय के दौर में समाचार-पत्रों से साहित्यिक परिशिष्ट ग़ायब हो चुके हैं, अख़बारों में साहित्य के लिए सुनिश्चित स्थान ग़ायब होते जा रहे हैं। कुछ गिने-चुने अख़बार ही हैं जिनमें साहित्य के लिए स्पेस आज भी मौजूद है। कुछ अख़बार रविवासरीय परिशिष्ट के बहाने साहित्यिक पत्रकारिता के साथ जुड़े हुए हैं। यह बहुत ही कम दिखाई दे रहा है जबकि साहित्य ही एकमात्र ऐसी मशाल है जो समाज के आगे-आगे चलती है। राह भटक रहे मुद्दे को अपनी दिशा में वापस मोड़ती है। अख़बारों में छपने वाले साहित्य में सरोकार का स्थान कम समय में अधिक पॉपुलर होने की भावना प्रबल दिखाई देती है। उस आख़िरी व्यक्ति के दु:ख, दर्द की बात दूर-दूर तक नज़र नहीं आती है। दोयम दर्जे की रचनाओं से पूरा साहित्यिकी पन्ना पटा रहता है जिसे निचोड़ने पर कुछ भी हाथ नहीं लगता है। अख़बारी कमी को सोशल मीडिया ने पूरा कर दिया।

विक्टर ह्यूगो ने कहा था कि जिस विचार का समय आ गया है उसे दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती। सोशल मीडिया भी इसी तरह का एक सामयिक विचार है जो एक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में सामने आया है। इसने हमारे समाज और निजी जीवन में जिस तरह का हस्तक्षेप किया है, उसे देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि इसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाए। सोशल मीडिया समाज के पारंपरिक ढांचे को पूरी तरह से बदल रहा है। सर्वे बताते हैं कि अब लोग एक-दूसरे से मिलने-जुलने की जगह सोशल मीडिया पर समय गुज़ारने और संवाद करने पर ज्यादा समय खर्च करते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ सोशल मीडिया लोगों की रचनात्मकता को सामने लाने का मुफ़ीद मंच साबित हो रहा है।

पिछले कुछ वर्षों में साहित्य, ख़ासकर हिंदी में, यह देखने को मिला कि जैसे सोशल मीडिया पर साहित्य का विस्फोट हुआ है, कई नए प्रकाशक, नए लेखक यहां तक कि नए आलोचक भी सोशल मीडिया के माध्यमों पर

प्रकाश में आए और उनका एक पाठक वर्ग बना। हालांकि, अभी तक सोशल मीडिया का साहित्य असंगठित-अव्यवस्थित ढंग से सामने आ रहा है जिसे कुछ हद तक अराजक भी कहा जा सकता है लेकिन अगर साहित्य के पारंपरिक मंचों से इसकी तुलना करें तो स्थिति ज्यादा अच्छी ही है। बेशक संपादक जैसा कोई 'गेटकीपर' न होने से सोशल मीडिया पर स्तरहीन रचनाएं रचने वाले भी कवि या कहानीकार बनने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन इसकी चिंता किए बग़ैर हिंदी साहित्य के प्रति यदि जनता की उदासीनता कम होती है तो यह अच्छा ही होगा क्योंकि सोशल मीडिया पर मौजूद सैकड़ों लेखकों में भी पहचान उसी को मिल पा रही है जो स्तरीय साहित्य रच रहा है।

1990 के आख़िरी दशक में सोशल मीडिया के अस्तित्व में आने के बाद ब्लॉग, फेसबुक, ट्विटर, गूगल प्लस, आरकुट, व्हाट्सएप आदि ने तेज़ी से लोकप्रियता बटोरी। यूजर्स जेनेरेटेड कंटेंट की वजह से लोगों ने इन साइट्स के इस्तेमाल में दिलचस्पी दिखाई क्योंकि हर यूजर को अभिव्यक्ति का एक सार्वजनिक माध्यम मिल रहा था, जहां वह खुद को व्यक्त कर सकता था। अभिव्यक्ति के इस नए-नवेले माध्यम के साथ खुद को पेश करने की इस आज़ादी ने लोगों को प्रेरित किया और तमाम तरह की अभिव्यक्तियों के साथ-साथ कविताएं, कहानियां, लेख आदि भी सोशल मीडिया पर सामने आने लगे। कई नए लेखकों के अलावा स्थापित लेखक, पत्रकार व विचारक भी फेसबुक आदि वेबसाइट पर नियमित तौर पर लिखते हैं। बुद्धिजीवियों के बीच कई अहम बहसें भी आए दिन फेसबुक पर देखने को मिल रही हैं।

ऐसे में यह देखना दिलचस्प होगा कि सोशल मीडिया के आने के बाद साहित्य की दशा-दिशा कितनी बदली है? उसकी स्तरीयता में कैसा परिवर्तन आया है? संपादकीय सीमाओं के हट जाने से साहित्य में लोगों की भागीदारी या अभिरुचि कितनी बढ़ी है? जो प्रकाशक, लेखक, कवि आदि फेसबुक आदि के माध्यम से सामने आए और लोकप्रिय हुए, उनमें संभावनाएं कितनी हैं? पारंपरिक मीडिया के साहित्य को 'हड़बड़ी का साहित्य' कहा जाता रहा है तो इस 'फ़टाफ़ट' माध्यम पर उभरे साहित्य संसार का स्थायित्व कैसा है? इन सारे सवालों के मद्देनज़र किया गया अध्ययन निश्चित ही इस नए माध्यम और यहां प्रकाशित साहित्य को समझने में उल्लेखनीय मदद करेगा।

देश में सन् 1990 से उदारीकरण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हुआ। इसके साथ ही तमाम तरह के परिवर्तन दिखाई दिए। वैश्विक स्तर का बदलाव इलेक्ट्रोनिक मीडिया की वजह से ज़ोर पकड़ने लगा। एक के बाद एक नए-नए माध्यमों का अवतरण हुआ जिसकी वजह से साहित्यिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और वैचारिक परिवर्तन, नवाचार का आरंभ हुआ। इस नई दुनिया को समाजशास्त्रियों, संचारवादियों, विद्वानों और कलमकारों ने अलग-अलग नामों से संबोधित किया है, किसी एक नाम पर सार्वभौमिक सहमति का अभाव है। ग़ौरतलब है कि 2008 में मीडिया के संदर्भ में एक कार्यक्रम 'मीडिया लिटरेचर विश्लेषण' के नाम से आयोजित किया गया था। उस दौरान लगभग 35 तरह के विवरण के उल्लेख किए गए जहां से कई नाम सामने आए जैसे ओल्ड मीडिया, ब्रॉडकास्ट मीडिया, मेनस्ट्रीम मीडिया, कमर्शियल मीडिया, न्यू मीडिया सहित सोशल मीडिया आदि-आदि। वैचारिकी से लेकर तकनीक तक हर तरह के बदलाव आए जिससे विस्तार हुआ। समकालीन समाज में तेज़ गति से हो रहे बदलाव ने उदित हुए मीडिया के कंधे पर चढ़कर लोगों के साथ बोल-बतियाने की मुहिम को गति दी।

सोशल मीडिया पारस्परिक संबंध के अंतर्जाल या अन्य माध्यमों द्वारा निर्मित आभासी समूहों को संदर्भित करता एक नया माध्यम है। मूलत: यह व्यक्तियों और समुदायों को साझा, सहभागी बनाने का ज़रिया है। मुख्यधारा की मीडिया से अलग सोशल मीडिया ऐसा अथाह महासागर है जिसमें जाकर समझदार तो मोती-जवाहरात की तलाश कर लेते हैं जबकि मंदबुद्धि उसके मकड़जाल में उलझ जाते हैं। जो हद दर्जे तक नासमझ, लापरवाह और बेवकूफ़ी करते हैं वह सब के सब मझधार में डूब भी जाते हैं। उनके डूबने की वजह वह स्वयं बन जाते हैं।

सोशल मीडिया के माध्यम से साहित्य की पहुंच हर तबके तक बहुत हद तक मुमकिन हुई है, जिस काम को प्रिंट और इलेक्ट्रोनिक मीडिया मिलकर भी नहीं कर पाए उसे सोशल मीडिया के छोटे-छोटे माध्यमों ने कर दिखाया है। यह काम केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी बहुत प्रभावी माध्यम बनकर उभरा है। सोशल मीडिया से पहले साहित्यकारों की सदियों पुरानी परंपरा थी। उस परंपरा को तोड़ने में लंबा अरसा गुज़र गया। प्राचीन साहित्यकारों का बना-बनाया रुतबा था वह धीरे-धीरे टूटने लगा है। इसका श्रेय सोशल माध्यमों को दिया जाना चाहिए। पहले के दौर में साहित्यकार बनने के लिए गुरु के शरण में जाने की परंपरा थी। अपनी लिखी अभिव्यक्ति को छपवाने के लिए बहुत ही मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती थी लेकिन यह परंपरा अब निरंतर टूट रही है।

आज के अधिकतर लिखत-पढ़त समूह में लेखनी की आज़ादी का अहसास सोशल मीडिया पर आकर बढ़ गया है। उनके अंदर का लेखक आत्मविश्वास से भर उठा है। आज जिस किसी के अंदर ज़रा सी भी लिखने की चिंगारी मौजूद है वह सब के सब साहित्यकार की पंक्ति में खड़े होते जा रहे हैं या हो चुके हैं। आज का लेखक अपनी अभिव्यक्ति को प्रकाशित कराने के लिए हाथ-पैर बाद में मारता है, पठनीय पाठक पहले तलाश लेता है। छोटी से छोटी भावाभिव्यक्ति पाठक से पाठक तक और लेखक से लेखक तक पल में पहुंचकर अपने को प्रामाणिक और अप्रामाणिक कहलाने को स्वतंत्र होती है। वस्तुत: आज का रचनाकार अपनी रचना को प्रकाशित कराने के लिए धक्के नहीं खाता, उसको खर्चे का डर नहीं सताता। अपनी रचना को ज्यों का त्यों पाठक के आगे प्रस्तुत करता है और उसका मूल्यांकन पाठक करता है। विचार एक बार कसौटी पर कसे जाने के बाद निखरने और संवरने लगता है।

इंटरनेट के माध्यम से साहित्य का विस्तार बहुत तेज़ हुआ है। समाज के हर एक नब्ज़ पर निगाह गड़ाए रखने वाले कलम साधकों ने अपने अंदर के आक्रोश को फ़ौरी तौर पर अभिव्यक्त करने के लिए सोशल साइट्स का बखूबी इस्तेमाल किया। यह मुख्यधारा की पत्रकारिता के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने लगी। अतीत से लेकर हर दौर का साहित्यिक पन्ना समय के पन्नों में क्षण में दर्ज होने लगा। साहित्य और समाज के हितचिंतक एक-एक कर समूहबद्ध होने लगे। किसी भी घटना की भनक लगते ही संवेदना की कोमल बरसात सीधे-सादे तरीके से नहीं बल्कि ज़लज़ले की तरह होने लगी। कलम सेवियों ने साहित्यिक पत्रिकाओं को दुनियाभर से जोड़ने के लिए तरह-तरह के मंचों की शुरुआत की जिसके द्वारा साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा और राजनीति, रणनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति के साथ ही विमर्शनीति को एक आंदोलन में बदल दिया। आज सोशल नेटवर्किंग साइट्स की ताकत ने जमी-जमाई सत्ता की चूलें हिलाकर रख दी है। इस दिशा में साहित्यकारों ने अपने-अपने हिस्से की ज़िम्मेदारी बखूबी निभाई।

साहित्य सेवा के लिए अनेकानेक लोगों ने विविध नामों से चिट्ठे की शुरुआत की जिनकी संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। सबसे पहले किसने

ब्लॉग से साहित्य की लौ जगाई, यह एक शोध का विषय है। आज बहुतेरे चिट्ठे अत्यंत प्रसिद्ध हैं। अनेक पत्रिकाओं ने साहित्य को व्यापक मंच मुहैया कराया है और साहित्य का संसार पाठक के सामने उसके हाथों में थमा दिया है जिसके सहारे साहित्य सकारात्मक दिशा में आगे बढ़ रहा है, समय के साथ मिलकर निरंतर फल-फूल रहा है। सोशल माध्यमों के द्वारा पाठक अपने विचार खुलकर व्यक्त करने को आज़ाद हैं, तुरंत प्रतिक्रिया मिलती है और रचनाकार को ग़लती के लिए भविष्य में सचेत रहने की सखी भी मिल जाती है। साहित्यिक पत्रिकाओं ने सोशल मीडिया पर अपना एक अलग संसार निर्मित कर लिया है जहां बुद्धिजीवी, समझदार, सामान्य व्यक्ति, सामाजिक समझ रखने वाले सभी विषय पर खुलकर बोलने वाले लोगों की एक बड़ी संख्या मौजूद है। कह सकते हैं कि प्रत्येक वर्ग के लोग अपने-अपने तरीके से अपनी बात कहने को स्वतंत्र हैं परंतु इसका दूसरा पहलू भी है कि सोशल मीडिया के सहारे साहित्य को नुकसान पहुंचाने वालों की भी कमी नहीं है जो दोयम दर्जे का विषय उठाकर समय तो ख़राब करते ही हैं गिरे स्तर का प्रदर्शन भी करते हैं, साथ ही व्यक्तिगत हितों की पूर्ति ने भी नुकसान को बढ़ाया है। नौसिखिए और सस्ती लोकप्रियता के मोह ने भी साहित्य को हानि पहुंचाने में कसर नहीं छोड़ी है।

आज सोशल मीडिया ने एक खुले अखाड़े का रूप धारण कर लिया है। साहित्य के क्षेत्र में सोशल मीडिया ने एक नया शक्ल अख़्तियार कर लिया है, कुछ नई साहित्यिक पत्रिकाएं पाठकों में बहुत ही लोकप्रिय हैं जैसे 'जानकीपुल', 'समालोचना', 'कविता कोष', 'गद्य कोष', 'स्त्रीकाल', 'प्रतिलिपि', 'सहचर', 'अपनी माटी' और 'नाटनोल', 'पहली बार', 'सिताब दियारा', 'हिंदी-समय हलचल', 'अपनी माटी' जैसी अनगिनत ऑनलाइन पत्रिकाएं मौजूद हैं जो नई प्रतिभाओं को उभारने में अहम भूमिका निभा रही हैं।

साहित्य के साथ-साथ विविध बोली और भाषाओं का भी इनके द्वारा प्रसार-प्रचार संभव हुआ है। इन पत्रिकाओं के माध्यम से सोशल मीडिया पर त्वरित पठनीय सामग्री उपलब्ध हो जाती है जिसका लाभ पाठक-वर्ग सहज ही उठा पाते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के माध्यम से नई सोच और नए विषय सामने आ रहे हैं। जो प्रतिभाएं कल तक छुपी और दबी बैठी थीं, वह आज समाज के समाने मुखर हैं जिससे साहित्य प्रगति की राह पर चल रहा है। वैसे वर्तमान चुनौतियों को देखते हुए, सोशल मीडिया साहित्य एवं समाज के संदर्भ में एक वरदान सिद्ध हो रहा है जिसमें अहम भूमिका पत्रिकाओं ने निभाई है। जीवन की व्यस्तताओं के कारण पढ़ने-लिखने का समय मनुष्य के पास नहीं है, भागमभाग के बीच पाठक उलझा हुआ है। अलग से समय निकालकर पढ़ने की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। छपाई और प्रकाशन जैसी भूख सोशल मीडिया पर आने के बाद खत्म हो जाती है। जहां सिर्फ विषय की कसावट और रचनाकार की मेहनत ही पाठक का ध्यान खींचने में सक्षम होती है। आज के दौर में अधिक से अधिक पत्रिकाएं इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। इससे साहित्य को घर-घर तक पहुंचाने में सुलभता हुई है। यह सर्वसुलभता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। मौजूदा दौर में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर साहित्य, संस्कृति और समाज में परिवर्तन की बयार को सोशल मीडिया ने गति दी है। यह माध्यम साहित्य सृजन और अभिव्यक्ति का मंच बनकर न केवल उभरा है बल्कि निरंतर अहम भूमिका अदा कर रहा है। बदलती परिस्थिति, परिवेश और परिदृश्य में सोशल मीडिया की पैरोकारी बढ़ी है, साथ में मुख्यधारा के मीडिया की निर्भरता सोशल मीडिया पर बढ़ी है।

देश-दुनिया के नक्शे पर घटित घटनाओं ने सोशल माध्यमों को मज़बूत

सोशल मीडिया से पहले साहित्यकारों की एक सदियों पुरानी परंपरा थी। उस परंपरा के तोड़ने में लंबा अरसा गुज़र गया। प्राचीन साहित्यकारों का बना-बनाया रुतबा था वह धीरे-धीरे टूटने लगा है। इसका श्रेय सोशल माध्यमों को दिया जाना चाहिए। पहले के दौर में साहित्यकार बनने के लिए गुरु के शरण में जाने की परंपरा थी। अपनी लिखी अभिव्यक्ति को छपवाने के लिए बहुत ही मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती थी लेकिन यह परंपरा अब निरंतर टूट रही है।

बनाया। व्यक्ति के अंदर युगों-युगों से दबे भड़ास को बाहर निकालने में सोशल मीडिया अहम भूमिका निभा रहा है। सत्ता पलटने की बात हो या अन्याय के ख़िलाफ़ न्याय का बिगुल फूंकने की या फिर किसी घटना विशेष या व्यक्ति विशेष के प्रति आक्रोश ज़ाहिर करने की बात रही हो यह माध्यम आम जनता के लिए सहजता से सुलभ हुआ है। लोग इसे एक हथियार के तौर पर भी इस्तेमाल कर रहे हैं। समाज का हर तबक़ा सोशल मीडिया के आने के बाद अपने को खुशकिस्मत समझने लगा है क्योंकि किसी भी भाव, भावना, भड़ास, क्रोध, आक्रोश, विद्रोह और सृजन को दबाने के बजाय तुरंत प्रकट करने का यह एक सशक्त माध्यम जो उसे मिल गया है।

सोशल मीडिया के आगमन से समझौतावादी नज़रिए में व्यापक परिवर्तन आया है। परिवर्तन की चाह रखने वालों ने समय से दो-दो हाथ किया। इस दिशा में उभर कर अनगिनत लेखक-लेखिकाएं और बुद्धिजीवियों की जमात खड़ी नज़र आई है जिनके दख़ल से भेद, मतभेद, आग्रह-दुराग्रह को छिपाना मुमकिन नहीं रहा। मात्र एक साल के अंदर किए गए सर्वे बताते हैं कि लगभग 5000 से अधिक साहित्य में रुचि रखने वालों की एक पूरी जमात सामने आई है जिनके अंदर क्रांतिकारी लेखकीय स्वर हैं, जिन्होंने आडंबर, जड़ता, पाशविक मानसिकता, दकियानूसी मानसिकता और भेदभाव के ख़िलाफ़ जमकर अपने अंदर के उबाल को दर्ज किया-कराया है, उनके लिए सोशल मीडिया ही एक मात्र मंच है।

सोशल मीडिया की इस ताकत को देखते हुए राजसत्ता से जुड़े कुछ लोग भय खाते दिखते हैं। कभी इसे ग़लत कहते हैं तो कभी हथियार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। इस संदर्भ में अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं। 'जनसत्ता' के पूर्व संपादक ओम थानवी कहते हैं कि "फेसबुक एक छिछोरा माध्यम है, विश्वसनीय नहीं" तो इस माध्यम की गंभीरता और छिछलेपन पर गंभीर काम की मांग बढ़ जाती है। चूंकि समाज में ही अच्छाई-बुराई का बराबर पैमाना भरा पड़ा है फिर इस समाज से कटकर हम किसी का मूल्यांकन कैसे कर सकते हैं। हम सदियों से सुनते-पढ़ते आए हैं कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' तो सोशल माध्यमों के आ जाने के बाद इस दर्पण पर किस तरह के खर-पतवार, धूल, झाड़-झंखाड़ उग आए हैं। उसका परीक्षण लाज़िमी है। इस नज़रिए के लिए भी बेहद ज़रूरी है जानना कि आख़िर इनके द्वारा किस तरह के समाज की परिकल्पना परिलक्षित होती है?

जिस माध्यम के आ जाने से क्रांतिकारी परिवर्तन की लौ जलनी शुरू हुई थी जिसको लेकर एक नए तरह का क्रेज़ था वह धीरे-धीरे चुनौती में तब्दील हो गया। रचना की चोरी-सीनाज़ोरी बढ़ने की वजह से भय का बाज़ार तैयार होने लगा। ❑

संपर्क : हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

सामाजिक मीडिया और भाषा

आज संसार की लगभग हर भाषा पर सामाजिक मीडिया के प्रभाव को महसूस किया जा रहा है, उसे समझने की कोशिश हो रही है और विमर्श भी हो रहा है। इस नए माध्यम ने हर नए माध्यम की तरह हर भाषा के प्रयोग के तौर-तरीकों, शब्दकोश, शैली, शुद्धता, व्याकरण और वाक्य रचना को प्रभावित किया है। यह असर लिखित ही नहीं बोलने वाली भाषा पर भी दिख रहा है, चर्चा कर रहे हैं **राहुल देव**



आजकल जब लगभग हर चीज़ को सामाजिक मीडिया (सोशल मीडिया) में उसकी उपस्थिति से नापा जा रहा है, हर संस्था, व्यक्ति, सरकार, कंपनी, साहित्यकर्मी से समाजकर्मी तक और नेता से अभिनेता तक को सामाजिक मीडिया में उसके वजन, प्रभाव और लोकप्रियता की कसौटी पर तौला जा रहा है यह स्वाभाविक है कि इस नई तकनीकी-सामाजिक शक्ति और भाषा के संबंध को भी हम समझने की कोशिश करें।

कुछ बुनियादी बातें शुरू में। यह सामाजिक मीडिया भी अंततः और प्रमुखतः एक तकनीकी चीज है और हर तकनीकी आविष्कार की तरह तत्वतः मूल्य-निरपेक्ष है। यानी हर तरह के काम के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है चाहे वह अच्छा हो या बुरा। इसलिए हर तकनीकी आविष्कार की तरह इसके दुरुपयोग पर हमें ज्यादा आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हर वैज्ञानिक या तकनीक आविष्कार, यदि वह एक व्यापक समाज के लिए रोचक या उपयोगी है, अपनी एक नई जगह बना लेता है। यह जगह पूरी तरह नई भी हो सकती है या पुरानी कुछ चीज़ों को हटाकर, घटाकर बनाई गई जगह भी। और जब यह नई तकनीक संवाद और संप्रेषण से जुड़ी हो तो स्वाभाविक है कि वह अपनी विशिष्टताओं के साथ संवाद और संप्रेषण के पुराने, मौजूदा तरीकों, उपकरणों और तकनीकों को कुछ विस्थापित करके ही अपनी जगह बनाती है।

जब प्रिंट आया तो वाचिक संवाद की सर्वव्याप्तता घटी। जब रेडियो आया तो उसने लिखित और मुद्रित माध्यम को थोड़ा खिसकाकर अपनी जगह बनाई। जब टेलीविजन आया तो बहुत से लोगों ने मुद्रित माध्यम के अवसान की घोषणा कर दी। उसका अवसान तो नहीं हुआ लेकिन उसके विकास, प्रभाव, व्याप्तता और राजस्व पर सीधा प्रभाव पड़ा और आज भी पड़ता ही जा रहा है। इतना कि आज टीवी प्रिंट माध्यम से प्रसार और राजस्व दोनों में लगभग आगे निकल रहा है। अब 'सोशल मीडिया' नाम के इस नए प्राणी ने संचार माध्यमों की दुनिया को फिर बड़े बुनियादी ढंग से बदल दिया है। यह प्रक्रिया जारी है और कहां जाकर स्थिर होगी, क्या समीकरण और अनुपात होंगे इन नए माध्यमों के बीच और कौन से नए, अभी अदृश्य माध्यम क्षितिज पर उभर कर इन समीकरणों को भी उलट-पुलट कर देंगे, यह कोई नहीं जानता लेकिन इन नए संप्रेषण मंचों और पुरानों में एक बुनियादी अंतर है अख़बार, पुस्तकों, पत्रिकाओं, रेडियो और टीवी से अलग इस माध्यम की संवाद क्षमता इसे शायद इन सबसे ज्यादा निजी, आकर्षक, अंतरंग और इसलिए शक्तिशाली बनाती है। दूसरे माध्यम एकदिशात्मक थे। यह नया माध्यम अंतःक्रियात्मक है, आपसी संवाद संभव बनाता है, अपने उपभोक्ता को केवल संप्रेषण का प्राप्तकर्ता नहीं, संवादी और संप्रेषक भी बनाता है। और अब जब यह डेस्कटॉप कंप्यूटरों, लैपटॉपों से निकलकर मोबाइल फोन पर आ गया है तो सर्वव्यापी, सर्वसमय, सर्वत्र और सर्वसुलभ हो गया है। इसीलिए यह इतना सम्मोहक, इतना सोख लेने वाला बनता जा रहा है।

और हर नए, अपने समय के लिए आधुनिक और सशक्त संचार-संवाद माध्यम की तरह इस सामाजिक मीडिया ने भी मानवीय संबंधों, परिवारों और रिश्तों के आंतरिक समीकरणों, तौर-तरीकों, संवाद शैलियों को प्रभावित किया है। इसने राजनैतिक रणनीतियों, विमर्श और चुनावी नतीजों में अपनी जगह बनाई है। कंपनियों और उनके उत्पादों-सेवाओं के प्रचार-प्रसार, उपभोग, मार्केटिंग और ग्राहकों तक पहुंचने, उन्हें छूने के तौर तरीकों को बदला है। व्हाट्सऐप, फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, लिंक्डइन आदि ने एक ऐसी आभासी दुनिया बना दी है जिसमें 8-10 साल के बच्चों से लेकर 50-60 की गृहणियों को भी अपने चंगुल में ऐसा फांस लिया है कि उनका अधिकांश मुक्त समय इसमें ही खपने लगा है। व्यापार, उद्योग, अभिशासन, मनोरंजन, राजनीति और मीडिया जगत के लोगों के लिए तो ये मंच महत्वपूर्ण है ही।

इसलिए अब हमारी-आपकी बोलने और लिखने की भाषा पर भी उसका असर दिखने और कई बार सिर चढ़कर बोलने लगे तो क्या आश्चर्य?

भाषा के दो प्रमुख आयाम हैं। एक, उसका शुद्ध भाषिक आयाम जिसमें उसके शब्दों, वाक्य रचना, व्याकरण, शब्दकोश आदि पर ध्यान रहता है। दूसरा, भाषा का सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक संदर्भ जिसमें उसके इन संदर्भों में प्रयोग, परिवर्तनो, अर्थों, प्रभावों आदि पर ध्यान होता है लेकिन केवल भाषा पर सामाजिक मीडिया के प्रभाव और उनके अंतर्संबंध पर बात करने से बेहतर होगा हम आज के समय में संवाद और संप्रेषण तथा भाषा के संबंध पर उसकी संपूर्णता में बात करें। वह इसलिए कि हम जानते हैं कि भाषा यानी शब्द किसी शून्य में नहीं वृहत्तर समाज की तमाम प्रवृत्तियों, रुझानों, सक्रियताओं, प्रक्रियाओं और चलन के बीचोंबीच स्थित, सक्रिय और गतिमान रहते हैं।

आज संसार की लगभग हर भाषा पर सामाजिक मीडिया के प्रभाव को महसूस किया जा रहा है, उसे समझने की कोशिश हो रही है और विमर्श

हो रहा है। इस नए माध्यम ने हर नए माध्यम की तरह हर भाषा के प्रयोग के तौर-तरीकों, शब्दकोश, शैली, शुद्धता, व्याकरण और वाक्य रचना को प्रभावित किया है। यह असर लिखित ही नहीं बोलने वाली भाषा पर भी दिख रहा है। जब ईमेल आई तो कहा गया कि पत्र लिखना ही समाप्त हो जाएगा। वह तो नहीं हुआ लेकिन हाथ या टाइपराइटर से पत्र लिखना जरूर लगभग खत्म हो गया है। कम से कम उनमें जो कंप्यूटर तक पहुंच गए हैं पर बात यहीं तक नहीं है। अब एसएमएस, ट्विटर, फेसबुक और व्हाट्सऐप ने बहुत से लोगों के लिए ईमेल को भी अनावश्यक और अप्रासंगिक बना दिया है।

यह प्रभाव केवल लिखित चिट्ठियों या ईमेल के प्रयोग-बाह्य हो जाने तक ही सीमित नहीं है। इन नए तकनीकी मंचों ने इनमें संवाद की भाषा, शब्दों, शैलियों और अभिव्यक्ति की शिष्टता को भी बदला है। ये बदलाव लगभग अपरिवर्तनीय हैं। एसएमएस ने तो अंग्रेजी से शुरू करके हर भाषा में शब्दों के रूप-रंग और वर्तनी को सिर के बल खड़ा कर दिया है। छोटे से फोन की स्क्रीन पर समय और श्रम बचाने के लिए शब्दों के संक्षिप्ततम रूपों के आविष्कार से लेकर एकदम नए शब्दों (उन्हें 'शब्दिकाएं' कहें तो क्या ज्यादा सटीक न होगा...) को गढ़ लिया गया है। आज जिस एलओएल (lol) का इस्तेमाल हिंदी वाले भी धड़ल्ले से कर रहे हैं हिन्गिलश या रोमन हिन्दी में उसके आविष्कार को 25 साल हो चुके हैं और बिना उसका असली रूप और अर्थ समझे उसका इस्तेमाल करने वाले बहुत से युवा ज्ञानी हिंदी में उसे 'लोल्ज' भी लिखने लगे हैं।

इस नई भाषा पर अंग्रेजी में भी उतनी ही चिंता है जितनी हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में, शायद हिंदी से ज्यादा ही। भाषा और शब्दों के सौंदर्य, मर्यादा, गरिमा और स्वरूप की चिंता करने वाले सभी इस नई भाषा के प्रभाव और भविष्य पर तो चिंतित हैं ही इस पर भी हैं कि इस खिचड़ी, विकृत, कई बार लंगड़ी भाषा की खुराक पर पल-बढ़ रही किशोर और युवा पीढ़ी वयस्क होने पर किसी भी एक भाषा में सशक्त और प्रभावी संप्रेषण के योग्य बचेगी या नहीं। यह ख़तरा इसलिए भी गंभीर होता जा रहा है कि ये नई पीढ़ियां पाठ्यपुस्तकों के अलावा कुछ भी गंभीर, स्वस्थ, विचारपूर्ण लेखन, साहित्य, वैचारिक पठन से लगातार दूर जा रही है। अच्छी, असरदार भाषा अच्छा पढ़ने से ही आती है। अच्छी भाषा के बिना गहरा, गंभीर विचार-विमर्श, चिंतन और ज्ञान-निर्माण संभव नहीं।

वे पीढ़ियां जो विद्यालयों की मजबूरन पढ़ाई के बाहर केवल या अधिकांशत: यह खिचड़ी, भ्रष्ट भाषा ही पढ़-लिख रही है उसकी बौद्धिक क्षमताएं ठीक से विकसित होंगी कि नहीं? अगर गंभीर चिंतन और विमर्श में सक्षम ही नहीं होंगे हमारे भावी नागरिक तो उसका उनके विकास के अवसरों और व्यापक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विकास पर कैसा असर पड़ेगा इस पर अभी हमारे बौद्धिक समाज, सरकार और नीतिनिर्माताओं का ध्यान बहुत कम गया है लेकिन सामाजिक मीडिया का असर सारा नकारात्मक ही नहीं है। ट्विटर और एसएमएस की शब्द सीमा ने, खासतौर पर ट्विटर की, अपनी बात को चुस्त, कम से कम शब्दों में, 140 मात्राओं के भीतर कहने के अभ्यास को संभव बनाया है। संक्षिप्त, चुस्त, चुटीले किंतु प्रभावी संप्रेषण का यह अभ्यास हमारी लंबी-चौड़ी, अनावश्यक लफ्फ़ाज़ी की हमारी पुरानी आदतों के लिए अच्छी खुराक है।

सामाजिक मीडिया ने सार्वजनिक अभिव्यक्ति और एक बड़े समुदाय तक निडर और बिना रोक-टोक और नियंत्रण के अपनी बात, अपनी सोच और अनुभव पहुंचाना संभव बनाकर अरबों लोगों को एक नई ताकत, समाज और अभिशासन में, छोटी-बड़ी बहसों में भागीदारी का नया स्वाद और हिम्मत दी है। सामाजिक विमर्श की यह मुक्त लोकतांत्रिकता शुभ है। लोकतांत्रिक भावना और व्यवहार को व्यापक, गहरा और समावेशी बनाने वाली है। इस नई ताकत ने सरकारों, शासनों, शासकों को ज्यादा पारदर्शी, संवादमुखी और जवाबदेह बनाया है, जनता के मन और नब्ज़ को जानने का नया माध्यम दिया है। सामाजिक मीडिया की ताकत ने शासनों को, पार्टियों को, नेताओं को, उनके फ़ैसलों, नीतियों और व्यवहारों को बदलने पर भी मजबूर किया है। यह सब स्वागतयोग्य है।

पर क्या इस मीडिया ने लोक-विमर्श को ज्यादा गंभीर, गहरा, व्यापक, उदार बनाया है? क्या जब करोड़ों लोग एक साथ इतना लिख-बोल रहे हैं इन मंचों पर उससे सार्वजनिक विमर्श की गुणवत्ता बढ़ी है, स्तर बेहतर हुआ है?

इस पर दो टूक राय देना संभव नहीं क्योंकि संसार में कुछ भी एकांगी, एकदिशात्मक नहीं होता, जैसा हम शुरू में ही कह चुके हैं। विमर्श की व्यापकता, भागीदारी, समावेशी चरित्र और विशालता बढ़ी है। ऐसे अनंत लेखक, विचारक, प्रबुद्ध, चिंतनशील नागरिक सामने आए हैं जो अब तक अखबारों, पत्रिकाओं, चैनलों से बाहर थे। उन्हें भी तमाम नामी, स्थापित लोगों के साथ सीधे संवाद करने और उसे समृद्ध बनाने का अवसर मिला है लेकिन हर तस्वीर की तरह इसका दूसरा पहलू भी है।

भाषा की आंतरिक संरचना और बाह्य प्रयोग को प्रभावित और कई बार विकृत भी, करने के साथ-साथ इस मीडिया द्वारा प्रयोगकर्ताओं को दी गई अज्ञातता ने एक नए तरीके की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इस अज्ञातता का लाभ उठाकर बहुत से लोगों ने गाली-गलौज, अश्लीलता, वाचिक हिंसा और बेहद आपत्तिजनक, हिंसक और अपमानजनक बातों की अभिव्यक्ति से पूरे विमर्श को दूषित किया है। यह इतना बढ़ गया है कि किसी भी मुद्दे पर फेसबुक या ट्विटर पर एक शालीन बहस या संवाद करना ही लगभग असंभव हो गया है। इस सामाजिक मीडिया का असामाजिक, सभ्यता-विरोधी चेहरा भी सामने आया है। विचारहीन, कुत्सा, अज्ञान, क्रूरता, प्रतिहिंसा, घृणा से भरे, सच्चे-झूठे आक्रोशों, कुंठाओं, दुराग्रहों से तिलमिलाते, कुढ़ते दिमागों को अपनी गंदगी इन माध्यमों पर निकालने का भी मौका और मंच मिल गया है और वे पूरे जोश से इसका फ़ायदा उठा रहे हैं। इस परिघटना को समानांतर रूप से समाज और राजनीति में बढ़ती खाइयों, दूरियों, दुराग्रहों और दुरभिसंधियों ने बढ़ाया और तीखा किया है। अंग्रेज़ी में 'ट्रौलिंग' कहलाने वाली इस प्रवृत्ति ने गालियों, धमकियों, चरित्र हत्या का सहारा लेकर बहुत से क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों, नेताओं, पत्रकारों, चिंतकों, अभिनेताओं के निजी जीवन को प्रभावित किया है।

समाज के कई वर्गों में सदियों से जमी रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों, दुराग्रहों, कुरीतियों, कुंठाओं को झूठी आईडी के कवच के पीछे लोक-विमर्श को गाली-गलौज तक उतार लाना संभव किया है इसी सामाजिक मीडिया ने। इसने न केवल सार्वजनिक जीवन में बहुत से लोगों को निजी स्तर पर प्रभावित और पीड़ित किया है बल्कि लोक-संवाद के इन अभूतपूर्व और शक्तिशाली मंचों का अवमूल्यन भी किया है।

संवाद, संप्रेषण और उनकी भाषा की सारी मर्यादाओं और शालीनता का यह बढ़ता अतिक्रमण और प्रदूषण अंतत: अगली पीढ़ियों की सहज संवाद शैली का स्थाई अंग और शैली न बन जाए इसकी चिंता करना समाज के सभी प्रबुद्ध वर्गों के साथ-साथ राज्य की संस्थाओं और व्यक्तियों की साझा जिम्मेदारी है। ❑

संपर्क : 190, नेशनल मीडिया सेंटर, राष्ट्रीय राजमार्ग-8, गुड़गांव-122002

सोशल मीडिया और लोकप्रिय साहित्य का बढ़ता बाज़ार

सोशल मीडिया के फेसबुक जैसे माध्यम हिंदी में एक नए परिसर का निर्माण कर रहे हैं और अब धीरे-धीरे उसकी अपनी व्यवस्था भी बनती जा रही है। आज हिंदी के लेखक सबसे बड़ी तादाद में इस माध्यम द्वारा संवाद स्थापित कर रहे हैं और इसके सकारात्मक उपयोग की दिशा में प्रेरित हो रहे हैं, चर्चा कर रहे हैं **प्रभात रंजन**



हिंदी में सोशल मीडिया, विशेषकर फेसबुक को लेकर दो तरह के विचार सक्रिय हैं- एक तरफ़ ऐसे लोग हैं जिनका यह मानना है कि हा हंत! सोशल मीडिया ने, फेसबुक ने हिंदी का बेड़ा ग़र्क कर दिया, जो समय हिंदी वाले पुस्तकों को दे सकते थे वह समय अब वे फेसबुक, जैसे माध्यमों को दे रहे हैं और धीरे-धीरे उनकी रचनात्मकता का क्षरण हो रहा है जबकि दूसरी तरफ आंकड़े हैं जो यह बताते हैं कि सोशल मीडिया के कारण हिंदी का व्यापक विस्तार हुआ है। इसका दायरा पहले से विस्तृत हो रहा है, वह हिंदी विभागों से बाहर फैल रही है। इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट आदि विविध क्षेत्रों से जुड़े लोग न सिर्फ़ हिंदी में साहित्य लिख रहे हैं बल्कि उसका अपना पाठक वर्ग भी बनता जा रहा है।

एक बड़ा बदलाव है जो सोशल मीडिया के फेसबुक जैसे माध्यमों की वजह से हिंदी लेखन के परिदृश्य पर घटित होता दिखाई दे रहा है। वह बदलाव हिंदी के लोकप्रिय लेखकों-पाठकों की दुनिया में हो रहा बदलाव है। लंबे समय तक हिंदी में लोकप्रिय लेखन के नाम पर, लोकप्रिय साहित्य के नाम पर सुरेंद्र मोहन पाठक, वेद प्रकाश शर्मा के जासूसी उपन्यासों को ही मानक माना जाता था। आज सोशल मीडिया, ऑनलाइन माध्यमों से होने वाली पुस्तकों की बिक्री के कारण यह स्थिति बन गई है कि हिंदी के जासूसी उपन्यास-लेखक हिंदी के लोकप्रिय साहित्य के प्रतिनिधि लेखक नहीं रह गए हैं। हिंदी में लगभग 7 दशक पुरानी यह विधा अपने अवसान की तरफ़ अग्रसर है।

अंग्रेज़ी के प्रमुख दैनिक 'हिंदुस्तान टाइम्स' में 8 मई, 2016 को एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें यह कहा गया है कि फेसबुक हिंदी में पुस्तकों को लोकप्रिय बनाने वाले माध्यम के रूप में ही नहीं बल्कि नई काट के हिंदी साहित्य के सृजन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। उदाहरण के लिए, राजकमल प्रकाशन के उपक्रम 'सार्थक बुक्स' ने लप्रेक सीरीज की शुरुआत की, जिसकी पहली पुस्तक प्रसिद्ध टीवी पत्रकार रवीश कुमार की थी, 'इश्क में शहर होना'। यह पुस्तक 2015 की ट्रेंडसेटर पुस्तक रही है। अपनी लोकप्रियता और व्याप्ति के मामले में इस पुस्तक ने एक छाप तो छोड़ी ही है। बाद में इस शृंखला में दो और पुस्तकें भी आई हैं, विनीत कुमार की 'इश्क कोई न्यूज़ नहीं' और गिरींद्रनाथ झा की 'इश्क में माटी सोना'। लप्रेक विधा की इन पुस्तकों की ख़ासियत यह है कि ये मूल रूप से फेसबुक स्टेटस के रूप में लिखी गई हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि फेसबुक ने हिंदी के लेखकों को इस बात की तमीज़ दी है कि कम शब्दों में किस तरह से मानीख़ेज़ बात लिखी जा सकती है, ऐसी बात जो कि ज्यादातर लोगों को अपने दिल की बात सी लगे। इसने इस मिथक को तोड़ दिया है कि हिंदी में लोकप्रिय का मतलब महज़ रूमानी या फंतासी साहित्य हो सकता है।

हिंदी का यह नया बनता लेखक वर्ग है जो हिंदी के लोकप्रिय साहित्य को नई दिशा दे रहा है, नई पहचान दे रहा है। इस क्रम में 'हिंद युग्म प्रकाशन' का नाम लिए बिना हिंदी में नए ढंग से लोकप्रिय साहित्य की लोकप्रियता से संबंधित कोई भी बात अधूरी ही मानी जाएगी। 'हिंद युग्म प्रकाशन' ने हाल के वर्षों में निखिल सचान की पुस्तक 'नमक स्वादानुसार', दिव्य प्रकाश दुबे की पुस्तक 'मसाला चाय', अनु सिंह चौधरी की पुस्तक 'नीला स्कार्फ', आशीष चौधरी की पुस्तक 'कुल्फ़ी एंड कैपुचिनो', सत्या व्यास की पुस्तक 'बनारस टॉकीज' जैसी कुछ ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की है जिन्होंने फेसबुक जैसे सोशल मीडिया साइट्स के प्रचार के सहारे और ऑनलाइन बिक्री के आधार पर हिंदी के लोकप्रिय साहित्य को एक नया रंग दिया है। आज लुगदी साहित्य के विशेषण से याद किया जाने वाला लुगदी साहित्य हिंदी के लोकप्रिय साहित्य की प्रधान विधा नहीं है तो इसके पीछे बहुत हद तक इस प्रकाशन से प्रकाशित पुस्तकों की भूमिका है। अभी हाल ही में हिंदी युग्म ने अजीत भारती की पुस्तक 'बकरपुराण' का प्रकाशन किया है, जोकि फेसबुक के एक लोकप्रिय व्यंग्य पेज 'बकर अड्डा' के लिए लिखी गई टिप्पणियों का संकलन है।

इन उदाहरणों से एक बात साफ़ है कि हिंदी के लोकप्रिय साहित्य की दुनिया सोशल मीडिया के प्रभाव में बदल रही है। 'हिंदुस्तान टाइम्स' के उसी लेख में 'हिंद युग्म प्रकाशन' के शैलेश भारतवासी का यह बयान भी छपा है कि उनके प्रकाशन से प्रकाशित होने वाले 90 प्रतिशत लेखक फेसबुक के माध्यम से उनसे जुड़े। कहने का मतलब यह है कि सोशल मीडिया ने लेखकों को पाठकों से जोड़ने में ही महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई है बल्कि उसकी वजह से लेखक प्रकाशक से भी जुड़ने लगे हैं। 'राजपाल एंड संज' प्रकाशन की मीरा जौहरी का यह मानना है कि पुस्तकों को पाठकों से जोड़ने की दिशा में यह सबसे जीवंत माध्यम है। फेसबुक के माध्यम से लेखकों, प्रकाशकों का पाठकों से दोतरफ़ा संवाद संभव हो पाता है, जो किसी और माध्यम में संभव नहीं है। जब पाठक लेखक, प्रकाशक के साथ संवाद करता है तो उसके भीतर पुस्तकों में रुचि पैदा होती है। यह इसका सबसे सकारात्मक पहलू है।

वास्तव में, इस बात को अब सभी स्वीकार करने लगे हैं। दिल्ली में आयोजित होने वाले विश्व पुस्तक मेलों में हिंदी के स्टालों पर भीड़ पहले से अधिक बढ़ने लगी है, हिंदी प्रकाशकों की पुस्तकों की बिक्री पहले से अधिक बढ़ी है। उसमें बहुत बड़ी भूमिका फेसबुक जैसे सोशल मीडिया की मानी जाती है। लोग फेसबुक पर लेखकों से जुड़ते हैं, प्रकाशकों से जुड़ते हैं और फिर उनकी पुस्तकों से जुड़ने के लिए, उनसे मिलने के लिए पुस्तक मेलों में आते हैं। फेसबुक आज हिंदी की एक नई दुनिया बना रहा है। हिंदी में जो सबसे बड़ी कमी महसूस की जा रही थी वह यह थी कि लेखकों को, पुस्तकों को पाठकों से किस तरह जोड़ा जाए?

फेसबुक माध्यम की कई विशेषताएं हैं, कई सुविधाएं हैं जिनका लेखक और प्रकाशक बड़ी होशियारी से इस्तेमाल कर रहे हैं। सबसे बड़ी सुविधा है कि यह माध्यम निशुल्क सुविधा प्रदान करता है अर्थात् इसके ऊपर प्रचार-प्रसार करने की पूरी आज़ादी है। दूसरे, इस माध्यम के उपयोग द्वारा ऑडियो, वीडियो सभी प्रकार की सुविधाओं से आकर्षित किया जा सकता है। पाठकों के लिए पुस्तक के अंश दिए जा सकते हैं, उनके साथ पुस्तकों के कवर साझा किए जा सकते हैं।

लेखकों और पाठकों के बीच किसी तरह का सूत्र नहीं था। हिंदी के पाठक अदृश्य ही रहते थे। मीडिया के माध्यमों, जैसे समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में पुस्तकों के लिए, साहित्य के लिए पन्ने सिमटते जा रहे हैं। जिसको हम लोकप्रिय साहित्य कहते हैं हिंदी के समाचारपत्रों में उसको भी स्थान नहीं दिया जाता। हिंदी के अख़बार अंग्रेज़ी के लोकप्रिय लेखक चेतन भगत का स्तंभ तो प्रकाशित कर सकते हैं लेकिन वे अपनी भाषा के लोकप्रिय लेखकों, मसलन सुरेन्द्र मोहन पाठक अथवा वेद प्रकाश शर्मा के लेख नहीं छापते।

ऐसे में एक तरह की संवादहीनता का माहौल बना हुआ था। पिछले कम से कम तीन सालों में फेसबुक ने इस परिदृश्य को बदलने में युगांतकारी भूमिका निभाई है। स्मार्टफोन के इस ज़माने में हर आदमी फेसबुक जैसे सोशल मीडिया के माध्यम से जुड़ा हुआ है, इस कनेक्टिविटी ने हिंदी में केवल लोकप्रिय साहित्य को ही एक नया आधार नहीं प्रदान किया है बल्कि हिंदी साहित्य की लोकप्रियता को भी इसने एक नया आयाम दिया है।

राजकमल प्रकाशन के संपादकीय निदेशक सत्यानंद निरूपम की यह बात उल्लेखनीय है, "लोकप्रिय साहित्य के प्रसार में सोशल मीडिया की भूमिका अभी निर्णायक है। अगर सोशल मीडिया को हमारे समय से घटा कर देखें तो और कोई ऐसा प्रभावी ज़रिया नहीं है, जिससे टारगेट रीडर तक कोई भी प्रकाशक या लेखक अपनी किसी पुस्तक को इतनी आसानी से पहुंचा सकता हो। इस प्लेटफॉर्म की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इसके ज़रिए न केवल पुस्तक के बारे में लोगों को बताया जा रहा है, बल्कि बेचा भी जा रहा है और लोग खरीद कर पढ़ने के बाद इसकी ख़बर भी वहां साझा कर रहे हैं। कई लोग पढ़कर अपनी संक्षेप में या विस्तार में राय भी रख रहे हैं। कोई किसी पुस्तक के बारे में अपनी राय जब अपनी फ्रेंडसर्किल में साझा कर रहा है तो और लोग उस राय से सहमति-असहमति जता रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया में लगातार पुस्तक की चर्चा बढ़ती जा रही है और दूसरे वैसे लोग जो उसे नहीं पढ़ पाए हैं, उनमें उसके प्रति उत्सुकता बढ़ती जा रही है। प्रकाशक और लेखक अपनी पुस्तक के बारे में लोगों तक जानकारी पहुंचाने का काम यहां पोस्टर, ऑडियो, वीडियो जैसे कई माध्यमों से असरदार ढंग से, बड़ी आसानी से कर रहे हैं। दरअसल, सोशल मीडिया लोकप्रिय साहित्य के प्रसार के लिए एक तरह का 360 डिग्री सोल्यूशन है।"

फेसबुक माध्यम की कई विशेषताएं हैं, कई सुविधाएं हैं जिनका लेखक-प्रकाशक बड़ी होशियारी से इस्तेमाल कर रहे हैं। सबसे बड़ी सुविधा है कि यह माध्यम नि:शुल्क मंच प्रदान करता है अर्थात् इसके ऊपर प्रचार-प्रसार करने की पूरी आज़ादी है। दूसरे, इस माध्यम का उपयोग द्वारा ऑडियो, वीडियो सभी प्रकार की सुविधाओं से आकर्षित किया जा सकता है। पाठकों के लिए पुस्तक के अंश दिए जा सकते हैं, उनके साथ पुस्तकों के कवर साझा किए जा सकते हैं, पुस्तकों के फेसबुक पेज बनाकर उससे भी लोगों को जोड़ा जा सकता है। 'राजकमल प्रकाशन' ने जब लप्रेक शृंखला की पुस्तकों का प्रकाशन शुरू किया तो उसका एक फेसबुक पेज भी बनाया और आज उस पेज से 5 हज़ार से अधिक लोग जुड़े हुए हैं। यह एक जीवंत माध्यम है, जिसमें हर प्रक्रिया में पाठक की भूमिका रहती है। यानी एक प्रोडक्ट के रूप में पुस्तक के तैयार होने में पाठक भी शामिल हो जाता है और वह धीरे-धीरे खुद को उस पुस्तक का हिस्सा समझने लगता है। पाठकों की पुस्तकों के साथ इस तरह की संलग्नता पहले संभव नहीं थी लेकिन यहीं पर एक सवाल यह भी उठता है जो बड़ा गंभीर है कि क्या साहित्य को किसी कमोडिटी के रूप में बेचा जाना चाहिए? क्या सोशल मीडिया के माध्यम से होने वाले अत्यधिक प्रचार-प्रसार के कारण साहित्य को लेकर अच्छे-बुरे का विवेक मिटता जा रहा है? क्या लोकप्रियता ही साहित्य का नया मूल्य है? हिंदी के संबंध में ये सवाल गंभीर हैं क्योंकि वह एक ऐसी भाषा है जिससे निरंतर बड़ी तादाद में पाठक रोज़ जुड़ रहे हैं लेकिन जिस तरह से सोशल मीडिया के माध्यम से साहित्य को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिस तरह से उसको विज्ञापित किया जा रहा है उससे श्रेष्ठ और लोकप्रिय के मानक आपस में घुलते-मिलते जा रहे हैं। सोशल मीडिया के कारण जो एक बड़ा प्रभाव पुस्तकों की दुनिया पर, हिंदी साहित्य के परिसर पर पड़ता दिखाई दे रहा है वह यह है कि बिकना ही सबसे बड़े पैमाने के रूप में स्थापित होता जा रहा है। श्रीकांत वर्मा की पंक्ति है, 'जो रचेगा, वही बचेगा' लेकिन सोशल मीडिया के कारण हिंदी में लोकप्रिय पुस्तकों की जो स्थिति बनी है उससे इन पंक्तियों से छूट लेते हुए यह कहने का मन करता है कि 'जो बिकेगा वही बचेगा'।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि सोशल मीडिया के कारण हिंदी विभागों से निकलकर फैल रही है। साहित्य महोत्सव से लेकर अंग्रेज़ी मीडिया में लगातार हिंदी की लोकप्रिय पुस्तकों को लेकर स्पेस बढ़ता जा रहा है। उसका परिसर तो बढ़ता जा रहा है लेकिन केंद्र सिमटता जा रहा है। जो माध्यम हिंदी की लोकप्रिय पुस्तकों को लेकर बढ़-चढ़कर जगह बना रहे हैं वे हिंदी के गंभीर साहित्य को लेकर किसी तरह के उपक्रम करने को लेकर उदासीन हैं लेकिन इस चिंता के बावजूद यह तथ्य बेमानी नहीं हो जाता है कि सोशल मीडिया के फेसबुक जैसे माध्यम हिंदी में एक नए परिसर का निर्माण कर रहे हैं और अब धीरे-धीरे उसकी अपनी व्यवस्था भी बनती जा रही है । आज हिंदी के लेखक सबसे बड़ी तादाद में इस माध्यम द्वारा संवाद स्थापित कर रहे हैं और इसके सकारात्मक उपयोग की दिशा में प्रेरित हो रहे हैं । आरंभ में सोशल मीडिया को लेकर हिंदी में माहौल यह था मानो सोशल मीडिया कोई नकारात्मक माध्यम हो, इसके माध्यम से एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने के सिवा और कुछ न होता हो। अब हिंदी वालों ने इस माध्यम की जनतांत्रिकता को भली-भांति समझ लिया है।

हिंदी में लोकप्रिय पुस्तकों का जो स्पेस बढ़ रहा है, नहीं लगता है कि उससे किसी भी तरह निराश होने की जरूरत है। नहीं भूलना चाहिए कि अंतत: हिंदी का ही विस्तार हो रहा है, उसका अपना बाज़ार बन रहा है, उसमें ग्लैमर का वह तत्व आता जा रहा है जिसके बिना हिंदी दशकों दीनहीन बनी रही। आज सोशल मीडिया के प्रभाव में और कुछ नहीं तो यह तो हुआ ही है कि हिंदी का आत्मविश्वास लौट रहा है। उसकी छवि बदल रही है। आने वाले समय में संभव है कि लोकप्रिय साहित्य के इसी बढ़ते प्रसार और बाज़ार से हिंदी के बेहतर साहित्य का रास्ता निकले। सोशल मीडिया के माध्यम से हिंदी का अपना एक नेटवर्क बन रहा है जो सकारात्मक पहलू है। ❑

संपर्क : ए-39, इलाहाबाद बैंक सोसाइटी, मयूर कुंज, नोएडा चेकपोस्ट के पास, दिल्ली-110096

अपने हिस्से की पीड़ा

संजीव ठाकुर



पहुंचने की कोई जल्दी मुझे नहीं थी लेकिन गाड़ी भागती जा रही थी। गर्मी भयानक थी। हवा का खूब गर्म बगूला खिड़की से अंदर आता था और आंखों के रास्ते मेरे शरीर में पहुंच जाता था। मेरा शरीर तप रहा था। मेरा सिर तप रहा था। प्यासे गले को राहत पहुंचाने के लिए पानी पीता तो प्यास और भी बढ़ जाती थी। ... गाड़ी रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी और न ही गाड़ी पर कोई कोल्ड ड्रिंक्स बेचने वाला आ रहा था। मैं खूब सारा ठंडा पीना चाहता था। करीब दो घंटे इस बेचैनी में बिताने के बाद स्टेशन आया। मैं भागा-भागा गया, दुकानदार से बोला, ''एक कोल्ड ड्रिंक, खूब ठंडा!'' दुकानदार ने दिया, खूब ठंडा भी नहीं था फिर भी पी गया। थोड़ी राहत मिली। ट्रेन पर बैठ गया। सिर में दर्द हो रहा था। दर्द की वजह गर्मी तो थी ही, भूख भी थी लेकिन मैं इस स्टेशन पर कुछ खा नहीं सकता। पिछली बार कुछ चटपटा खाने का मन होने पर मैंने यहां चाट खा लिया था। खाते ही मिचली आने लगी थी। सिर घूमने लगा था। संयोग था कि घर पहुंचने पर उल्टी हुई थी। रातभर उल्टी होती रही। एक-एक चीज़ बाहर आ गई थी। सिर में चक्कर आज भी आने लगा था। उलटी होने का डर भी बार-बार हो रहा था। बच गया, हुआ नहीं। गाड़ी पहुंच गई। ऑटो-रिक्शा लेकर उसके घर आ गया।

''अरे! आ गए?'' दरवाज़ा खोलते ही वह बोल पड़ी। उसने मुझे गले लगाया और दो बार चूम लिया।

ड्राइंगरूम में कोई फिल्म चल रही थी। मैं नहाने चला गया। सिर पर खूब पानी डाला। दर्द कम नहीं हो रहा था। दो बिस्किट खाकर डिस्प्रिन खा ली। लेमन स्क्वेश पिया। सोने चला गया। इधर फिल्म चल रही थी, उधर नींद आ रही थी...।

दो घंटे सोने के बाद नींद खुली। मैं उठकर ड्राइंगरूम में चला गया। उसके पास बैठ गया। उसके कंधे पर सिर रख दिया। मेरी आंखें अब भी जल रही थीं। उसने पूछा, ''कैसा है सिर दर्द?''

मैंने कहा, ''थोड़ा ठीक है।''...

''कुछ खाओगे?''...''नहीं, ठंडा पीने का मन है!'' ...वह फिर से लेमन स्क्वेश ले आई। पीने के बाद मैं उसी की गोद में सिर रखकर लेट गया। वह मेरे बाल सहलाने लगी। मैं टी.वी. स्क्रीन की ओर देखने की कोशिश करता तो मेरी आंखों में पानी भर आता। उसने पूछा- ''फिल्म देखनी है?'' मैंने कहा, ''नहीं! आंखें दुखती हैं।''... ''तो जाओ, सो जाओ!'' उसने मुझे ठोकते हुए कहा। वह मेरा भला करना ही चाहती थी लेकिन मेरा बुरा हो गया। मैं उसके पास ही रहना चाह रहा था। इतने दिन बाद उससे मिला था और इतने दिन बाद वह सचमुच मिली थी।... मुझे उठना ही पड़ा। बेडरूम में जाकर सोचने लगा, 'बाहर जाने से पहले क्या हो गया था इसे? और मुझे? क्यों हम एक-दूसरे के लिए कुछ नहीं रह गए थे? वह कौन-सी घटना, कौन-सा बिंदु था जिसने हमें जुदा किया था?... उसके बारे में क्या सोचना? आज वह फिर से वही है। मैं भी वही हूं।

पौने छह बजे मैं बस स्टॉप पर था जबकि मैंने सोच लिया था, वहां नहीं जाना है लेकिन आ उसी स्टॉप पर गया था जहां से वहां जाने के लिए बस मिलती है...।

आज सुबह से मैं तैयार था। चार बजे मुझे इंटरव्यू लेने जाना था। मन था इंटरव्यू लेने से पहले कहीं चला भी जाऊं। तैयार भी हो गया। यही दो मिनट पहले तैयार होता तो निकल गया होता। वह आ गई थी। अप्रत्याशित था उसका आना। उसके आते ही उदासी भी मुझ पर आ गई। निकलने का विचार त्यागना पड़ा और उसके साथ दो घंटे बिताने पड़े। साथ रेस्तरां में खाना खाने गया। खाना अच्छा नहीं लग रहा था। एक-दो बार उसने पूछा भी- ''उदास लगते हो?'' मैंने कह दिया- ''थकावट लगती है काम करते-करते।'' उसने अधिक बोझ सिर पर न लेने को कहा और कई बार अपने घर आने को कहा। मेरा जवाब नकारात्मक रहा। 'काहे को जाना?'

उसके साथ ही बस स्टॉप पर आया। मुझे अलग दिशा में जाना था। अलग जगह...अलग बस...अलग बस स्टॉप! बस स्टॉप पर आधा घंटा अपने-आप से जूझना पड़ा। भूल ही नहीं पा रहा था उस तीतेपन का स्वाद! समझ में नहीं आ रहा था, इस मूड में क्या लूंगा इंटरव्यू? अच्छा होता आज की डेट नहीं ली होती। मैं जानता ही कहां था- क्या होने वाला था? ... मैं इस कोशिश में लग गया कि खुद को उस दुनिया से निकालकर इधर कर लूं- इधर उस कलाकार की दुनिया में जिसका मैं इंटरव्यू लेने जा रहा था।

साढ़े तीन बजे बस आई। पता नहीं कैसे पच्चीस मिनट में ही वहां पहुंच गई जहां से पैदल चलना था। दस मिनट का सफ़र पांच मिनट में तय करना था। भागना पड़ा बेतहाशा। कभी-कभी लगता था, दौड़ पड़ूं। सोचता था घड़ी की सूई रुक जाए और जब मैं कलाकार के घर पहुंचूं तभी चार बजे!...घड़ी की सूई तो रुकी नहीं, मैंने चार बजे कलाकार के घर की कॉलबेल बजा दी।

और पौने छह बजे मैं बस स्टॉप पर था-वहां जाने के लिए जहां न जाने का मैंने निश्चय कर रखा था...!

बस में काफी लोग थे। मेरे लिए सीट नहीं थी! अगले स्टॉप पर एक लड़की चढ़ी। उसे जगह मिल गई। दूर से ही देखा उसकी कनपट्टी पर पसीने की एक मोटी बूंद सरक आई थी। मैं उस बूंद को उसकी आंख के नीचे देखना चाहता था- जो मेरे लिए बही हो। अपने लिए वां एक भी बूंद आंसू मुझे अच्छा लगता है...दो-तीन स्टॉप के बाद वह उतर गई। पसीने की बूंदें सूख गई थीं, बस में आने वाली हवा के कारण!...उसके उतरने पर मैं उसी जगह बैठ गया। उसकी छुवन वहां थी। लेकिन वह?

बस से उतरकर मैंने सड़क पार किया। पार्क पार किया- छोटे-छोटे पत्थरों से भरा पार्क। नेहरू रोड पर आया। मैं चाहता था गुज़रने वाली हरेक बस, कार, ऑटो मुझ पर से गुज़र जाए। लेकिन मैं सड़क पार कर गया और तेज़ चलने लगा। उसका घर आने से पहले मेरे पैर थक गए थे। उसकी सीढ़ियों की महक एक क्षण को जानी-पहचानी लगी थी, फिर अजनबी लगने लगी।

मैंने दो बार घंटी बजाई जैसे पहले बजाता था। मुझे पता था, दरवाज़ा वही खोलेगी। यह नहीं पता था मेरा माथा चूमेगी। मुझे लगा, यह पहले वाला स्पर्श नहीं है।

ड्राइंगरूम में हल्की हलचल हुई। सामान सरकाकर मेरे लिए जगह बना दी गई। उसने मेरा हाल पूछा। मेड ने 'ठंडा या गरम?' पूछा। यह जानकर कि उसने अभी ही चाय पी है, मैंने अपने लिए कुछ बनाने से मना कर दिया। मैं एक बड़े कलाकार के हाथ की बनी चाय पीकर आया था! वह मेरे बग़ल में बैठी थी। उसने पूछा, ''इंटरव्यू लिया?'' मैंने 'हां' कह दिया। टी.वी. पर फिल्म चल रही थी। वह फिल्म देखने लगी। उसके नाइट गॉउन का रिबन मेरी गोद में पड़ा था। वह मुझे छू भी रहा है, यह मैं महसूस नहीं कर पा रहा था। देखकर ही जान पाया।

ब्रेक में वह कमरे से बाहर हो गई। मैं खड़ा रहा। वह अंदर आई और मुझसे पूछा, ''रात रुकोगे न?'' मुझे अजीब लगा। महीनों हुए यहां रात रुके, यदि इस रात को निकाल दें, जिस रात मैं बाहर से आया था। फिर रुकना कैसा? संक्षिप्त उत्तर दे दिया, ''नहीं।'' वह चली गई।

मैंने उन पन्नों को निकाला जिस पर इंटरव्यू के समय नोट्स लिए थे। मेरी कनपट्टियों में दर्द हो रहा था। उन्हें दबाए पन्नों पर नज़र मार रहा था। वह आई। पूछा- ''दर्द हो रहा है? ... दवाई ले लो!'' मैंने मना कर दिया। मुझे दर्द के साथ जीने की आदत डालनी है। दवा से मरना नहीं है- एक रोज़ का दर्द थोड़े ही है?

मैं पढ़ रहा था बहुत तेज़ी से लिखे गए शब्दों को, ''कई बार हम खुद को नहीं समझ पाते। हम क्या चाहते हैं, क्या नहीं? हमने क्या खोया, क्या पाया है? हम कहां होना चाहते हैं कहां नहीं? वही हाल रंगों का है, रेखाओं का है। हम क्या बनाना चाहते हैं और हमसे क्या बन जाता है?'' ...



फिल्म खत्म हुई और डिनर की तैयारी शुरू। उसने पूछा- ''रोटी लोगे?'' मैंने कोई जवाब नहीं दिया। मेड से पूछा- ''मेरे लिए क्या बनाया है?'' मेड ने कहा- ''चावल!'' मेरा मन खिजा गया। मुझे हरेक चीज़ में नमक अधिक लगने लगा। मैंने मेड से दही मांग लिया। दही मिलाए बग़ैर निगलना मुश्किल था। खाने के बाद सोफ़े पर बैठना मुझे मुश्किल लग रहा था। गद्दे चुभ रहे थे। मैं उठा। घड़ी बांधी। कमरे से निकलने लगा। वह बोली, ''रात रुक जाओ!'' मैं निकल गया। सड़क मुझे बेमानी लग रही था। मेरा उस पर चलना उससे अधिक बेमानी थी और मरा होना उससे भी अधिक।

कई बसें मैंने छोड़ीं। लोग चढ़ जाते थे मुझे छोड़कर! मैं चाहता था अंतिम बस पकड़ूं या उसे भी छोड़ दूं और पैदल चलूं लेकिन मुझे नहाने का मन था। मैं बस पर चढ़ गया। पता नहीं वह अंतिम थी या नहीं क्योंकि अंतिम की पहचान मुझे नहीं है। हर अंतिम आरंभिक लगने लगती है...।

मैं चाहता था, बस बहुत तेज़ चले लेकिन हर चढ़ने वाले को चढ़ाते हुए। मैं देख रहा था, बस बहुत जगह नहीं रोकी जाती थी।

सुबह के सवा बार बजे मैं अपने बाथरूम में था। मग से पानी शरीर पर डालते हुए कुछ भी नहीं सोच रहा था। बस महसूस कर रहा था उस शीतलता को जो उस समय मेरे लिए नितांत आवश्यक थी। मैं आधा घंटा नहाता रहा। बार-बार बाल्टी में मग डुबाना और उसे शरीर पर डालना. ..अच्छा खेल लगा। हाथ भी दुखाया। दुख भी हुआ- किस कबाड़खाने में रहता हूं- बाथरूम में शॉवर तक नहीं... लेकिन फिर भी नहाता रहा- यह भूलकर कि लोग अभी सो रहे होंगे गहरी नींद में!

''बस, मैं नहीं जाना चाहता।''

'क्यों?' का कोई जवाब नहीं है मेरे पास और अगर है भी तो मेरे भीतर! तुम्हें कैसे दिखा दूं?'' उसकी सहेली मेरी अंतिम बात मान गई, पहली नहीं। वह बोली, ''फॉर्मल रिलेशन तो रख सकते हो?'' ...मैंने कहा, ''नहीं! कई बार कोशिश की, हो नहीं पाता।''

उसकी सहेली अभी-अभी वहां से आई थी। मैं कुछ पढ़ना चाह रहा था लेकिन वह अपनी बात मनवाना चाह रही थी। उसे लगा कि मैं ग़लत कर रहा हूं, मेरा व्यवहार ठीक नहीं है। मुझे इसका कोई दुख नहीं हुआ लेकिन जब उसने कहा कि वह शनिवार को यहां आ रही है तो मैंने इसका अनौचित्य जताया। उसकी सहेली मुझसे उलझ पड़ी ''क्यों? मिलना भी नहीं चाहते? आ रही है वह तुम्हारी अपनी है।'' ...''वह यह नहीं समझती कि उसका आना नितांत औपचारिक है?'' मैंने पूछा और उसके आने को लगातार बेतुका ठहराता रहा। वह बोल पड़ी- ''ठीक है, मैं कह दूंगी, तुम उससे संबंध नहीं रखना चाहते।''

उसकी सहेली के लिए इतनी सहज बात कितनी असहज है-यह उसे कहां पता? उसे तो यह भी नहीं पता कि संबंध रखने की चीज़ नहीं, होने की चीज़ है। रखना चाहें या नहीं, संबंध होता है और उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

शनिवार को मुझे उधर जाना था, मैंने सोचा- उसके घर चला जाऊंगा और उसकी मेड को बता दूंगा आज और कल के अपने व्यस्त कार्यक्रम के बारे में। मेरे कदम बढ़ रहे थे, इधर। दरवाज़ा खोलते ही मेड ने कहा- ''दीदी अभी नहीं आई हैं।''

मेरे लिए पानी लाकर मेड कहने लगी- ''दीदी आजकल बहुत दुखी रहती हैं ... जिस रात आप बिना खाए चले गए थे, उस रात दीदी ने ठीक से खाया नहीं था। ... आजकल उनका मूड हमेशा चढ़ा ही रहता है ... ऑफिस जाते समय ड्रेस ठीक करती है ... आज ही प्रेस करते समय साड़ी जल गई। मैं खाना बना रही थी, वह खुद प्रैस करने लगीं। ...आज तो आपको कहीं नहीं जाना है न? ...चाय बना दूं?''

मेरे लिए इन बातों का कोई अर्थ नहीं था। मैं वहां बैठा था बस।...

मैंने कहा कि ''अब मैं जाऊंगा।'' मेड बोली, ''थोड़ी देर रुक जाइए, वह आती होंगी।'' मैंने कहा, ''नहीं, मैं जाऊंगा।''

मेड मुझे चाय पीने को कहने लगी। वह किचन चली भी गई लेकिन मैं नहीं रुका। कमरे से निकल गया। गेट खोलकर बाहर आ गया।

एक बोझ लेकर बढ़ा जा रहा था। खुद को इसके लिए भी तैयार कर रहा था कि सामने से वह आ जाए तो कैसे मिलूंगा?...आजकल वह बड़ी अच्छी हो गई है, कोई सवाल नहीं करती। मिल भी जाएगी तो कोई खतरा नहीं...।

वह नहीं मिली। मैं बढ़ गया तेज़ी से ताकि मेरे पैर उसके दफ़्तर की ओर न मुड़ जाएं...!

मैं पैदल ही चलता रहा। चलते-चलते बड़े पार्क तक पहुंच गया। पार्क की सुंदर घास पर पालथी मारकर बैठ गया। आसपास की घास को सहलाते हुए मुझे अपने रुखड़ेपन का एहसास हुआ। मेरा मन किया कि लौट जाऊं और उसके साथ कुछ पल बिताकर ही आऊं लेकिन नहीं...मैं वहां से चलकर बस स्टॉप पर आ गया। उस बस स्टॉप पर जहां से बस मुझे अपने घर ले जाने वाली थी।

सुबह अच्छी बारिश हुई थी। वातावरण की सारी गर्मी सोख ली गई थी। मौसम में हल्का ठंडापन आ गया था। ऐसे मौसम में मुझे नींद अच्छी आती है। मैं सो रहा था। कमरे के पंखे की हवा बाहर की ठंड से मिलकर खूब ठंडी हो गई थी। मैं सिकुड़ आया था। कैलेंडर के फड़फड़ाने की आवाज़ लगातार आ रही थी। ...

खुले दरवाज़े से उसकी सहेली अंदर आ गई थी। मैं उठकर बैठ गया था। उसने बताया कि वह भी आई है। मैंने सोचा, वह सीधे मेरे पास आएगी, मेरी छाती से लग जाएगी।... वह आई। उसने एक क्षण को मुझे देखा और कुर्सी पर बैठने चली गई।

उसके चहकने से आभास हुआ कि मेरा दोस्त आ गया है। मुझे राहत मिली। मेरा दोस्त उसी के पास बैठ गया। उसकी सहेली भी उसके पास थी। तीनों बातें कर रहे थे। हंस भी रहे थे। उसकी हंसी उस बीच गूंज-गूंज जाती थी। 'वह हंसना भूली नहीं है? मैं तो समझ रहा था...।' मुझे उसकी हंसी न अच्छी लग रही थी, न बुरी। मैं सोच रहा था, ''मैंने ग़लत समझा था खुद को। अपनी कीमत कुछ अधिक ही आंक ली थी मैंने। मैं नहीं हंसूंगा तो कोई नहीं हंसेगा?''

मेरा दोस्त कुछ करने बाहर चला गया। उसकी सहेली भी निकल गई। बाकी बची वह। और मैं। कहीं यह साज़िश तो नहीं मेरे विरुद्ध? मेरी छाती धक्-धक् करने लगी थी। पता नहीं क्या पूछ लिया जाए? ...लेकिन नहीं... कुछ नहीं हुआ। वह छत की ओर देखती रही, मैं सिर झुकाए अपनी चादर पर छपे फूल पर उंगली घुमाता रहा।

चाय पीने का मन नहीं कर रहा था जबकि नींद से जगने पर चाय मुझे चाहिए ही। अपने दोस्त को स्टोव जलाने का कहकर मैं बरतन धोने चला गया। वह मदद को आई। मैंने उसे नहीं धोने दिया। मेरे दोस्त की चाय के लिए काफी दूध रख दिया था। वह बोल रही थी, 'बहुत हो जाएगा दूध।' उसे अजीब भी लगा होगा, मैं इतने दूध की चाय कैसे पीने लगा हूं? मुझे अजीब नहीं लगता अब कुछ भी।

चाय लेकर हम ऊपर छत पर आ गए। वह दीवार पर बैठ गई। मेरा दोस्त खड़ा था दीवार से सटकर। उसकी सहेली और मैं खाट पर बैठे थे मेरा दोस्त मज़ाक कर रहा था। बीच-बीच में मुझे भी शामिल करना चाहता था लेकिन मैं कुछ नहीं बोल रहा था। मैंने उसकी सहेली से पूछा कि उसे और चीनी चाहिए क्या?...मैं खाट से उठकर थोड़ी दूर जाकर दीवार पर बैठ गया। सड़क पर चलने वाले लोगों को देखने लगा। किसिम-किसिम के लोग थे! कुछ शाम की खरीदादी कर वापस लौटते कुछ दूध का डब्बा लटकाए जाते! कुछ यूं ही इधर-उधर डोलते।

चाय खत्म कर सब नीचे आए। पार्क तक पैदल घूमने का मन सबका था। मेरा नहीं। फिर भी साथ चला। उसकी सहेली मेरे साथ चल रही थी। मेरा दोस्त उसके साथ आगे-आगे चल रहा था। मुझे चुपचाप चलते रहने का मन था लेकिन उसकी सहेली कुछ-कुछ पूछती जाती थी, कहती जाती थी। उसकी सहेली ने कहा, ''कोई बात हो तो बताया करो। दुखी नहीं रहो।'' मैं चुप रहा। उसकी सहेली बोली- ''आज तो तुमने कुछ भी बात नहीं की?'' ...कोई और भी यह बात सुन रहा है, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। कोई इन मुद्दों पर मुझसे बात करे, यह भी मुझे पसंद नहीं फिर बात भी करूं तो किससे? उसकी सहेली से? कौन सहेली? किसकी सहेली? उसकी सहेली?...कौन वह?...मेरी ...! कौन मैं... बहुत दूर का रिश्ता हो जाता है।

पार्क की घास पर पत्थर बिछा दिए गए थे। अच्छा नहीं लगा। कहां गई वह मुलायम-नर्म घास?...और यह मौसम गुलाबों के खिलने का नहीं है? गुलाब है भी तो दो-चार, सूखे से।

मुझे अच्छा लग रहा था कि थोड़ी देर में बस आ जाएगी और मैं अकेला रह जाऊंगा। कुछ मिनट बहुत कठिन थे- बस की प्रतीक्षा के। बस आई। मैंने उसकी सहेली को चढ़ा दिया। वह पीछे से चढ़ी। मेरा दोस्त भी चढ़ गया। पता नहीं, कहां जाने के लिए? मैंने देखा, वह मुझे भी चढ़ जाने का इशारा कर रही है। मैं नीचे खड़ा रह गया। बस जब थोड़ी दूर जाकर मुड़ गई, मैंने एक बार देखा, फिर चल पड़ा।

सड़क पर मैं अकेला था। धीरे-धीरे चलना मुझे अच्छा लग रहा था। इच्छा हो रही थी एक बार फिर उसी रास्ते पर चलूं जिस पर अभी-अभी चलकर आया था। ...लेकिन मैंने दूसरा रास्ता ही लिया। कमरा आया। मेरा अकेलापन अब भी मेरे साथ था।

मेरा मन कर रहा था, चित्र बनाऊं। पहली बार ऐसा हुआ था कि चित्र बनाने का मन किया था। मैं काग़ज़, कलम लेकर बैठ गया। काग़ज़ पर एक लंबी सी नाक बनाई। नाक से निकलता पीपल का पेड़ बनाया। पेड़ पर चिड़िया। नीचे बैठा एक आदमी। चिड़िया की बीट उसी आदमी के ऊपर गिरती हुई। उसे देखकर हंस रहा बंदर! बंदर को लीलने को बढ़ रहा एक अजगर! अजगर के डर से सहमी हुई चिड़िया!...मुझे लगा, मैं अपनी ही कहानी का इलस्ट्रेशन करने लगा हूं। मैंने चित्र बनाना बंद कर दिया। काग़ज़ को टुकड़ों में बांटने लगा। बांटता गया, बांटता गया...!

मैं खाना खा चुका था। अब सोना ही बाकी था और बाकी था वह समय जो सोने से पहले मुझे बिताना होता है। उस समय एक से एक असंगत चीज़ें सामने आती रहती हैं। रोज़ कुछ न कुछ नया...।

उसकी गर्दन। उसके नीचे चंद्राकार फ्रॉक! के ऊपर पीठ का बाकी हिस्सा। रंग जैसा चमड़े का होता है लेकिन पॉलिश्ड! रीढ़ की हड्डी की गांठें इस तरह झांकती हुई की उन्हें गिना जा सके। छोटा-सा तिल। उसकी उंगलियां। बढ़े और रंगे नाखून। उसने अपना हाथ पीछे कर मध्यमा से ठीक तिल को छुआ था- मुझे ही बताने के लिए कि 'देखो, यह है, वही है!' ...आज ही तो, पार्क में! क्या नाम है उस लड़की का?

सब कुछ वैसा ही होता रहे जैसा हम चाहते हैं, अच्छा लगता है। इसकी विपरीत स्थिति में निराशा होने लगती है, अंधकार दिखने लगता है। इस अंधकारमय स्थिति को न आने देने के लिए जरूरी है कि हम अपनी अपेक्षाओं में कटौती कर दें। ... मैंने कर दी कटौती। मुझे बहुत कम लोगों से अपेक्षा रह गई है। इन लोगों में कम-से-कम

वह तो नहीं ही है। वह बुलाती है, मैं नहीं जाना चाहता हूं। फिर चला भी जाता हूं और उसी तरह वापस आ जाता हूं। यह सब एक यांत्रिक प्रक्रिया हो गई है।

इस प्रक्रिया में कितना पिसता हूं- इसका लेखा-जोखा लेने का समय नहीं है समय है वहां फिर से जाने का। आज मुझे यह भी छूट नहीं कि मैं सोचूं आने या न जाने के सवाल पर। आज उसका जन्म-दिन है। मैं गया। जन्म-दिन की औपचारिकताओं के बाद खाना खाया। खाने के बाद स ही छटपटाहट थी आने की। मैं निकल पड़ा। घर आकर देखा, मेरा दोस्त आ गया था। चाभी रखने का गुप्त स्थान उसे मालूम था। ताला खोलकर वह आराम फ़रमा रहा था। मुझे देखते ही उठ बैठा।

''कैसा रहा आज का दिन?'' उसने पूछा।

''बाकी दिनों की तरह ही!'' मैंने जवाब दिया।

''रात वहीं क्यों नहीं रुक गए?'' उसने पूछा।

''क्योंकि रात तुम्हारे साथ रहना था!'' मैंने जवाब दिया।

मैंने पूछा- ''सुनो! हरिद्वार चलते हो?''

'संन्यास लेने?'' उसने पूछा।

''जो समझ लो!''

''कब चलना है?''

''अभी!'' मैंने दृढ़ता से कहा।

''पागल हो क्या?''

''जो समझ लो!''

''वहां जाकर करोगे क्या?

''अपने-आप को ढूंढूंगा!''

''तुम जाओ, जाकर ढूंढ़ो! मैं वहीं सोता हूं। सुबह चला जाऊंगा। बारह बजे की बस पर बैठ गया। प्यास से गला सूख रहा था। बॉर्डर पर बस रुकी तो ठंडा ले लिया। बस खुलने पर मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं बाहर झांक रहा था। पीछे बहुत कुछ छूटता जा रहा था। मैं सोचना नहीं चाह रहा था कि पीछे क्या छोड़कर आया हूं? मैं देखना चाह रहा था आगे आने वाली सड़क को जो हरिद्वार को जाती है। मैंने देखा, आकाश में चांद अकेला था। गुमसुम था। उससे थोड़ी ही दूरी पर एक तारा भी था, उसी तरह अकेला, उसी तरह गुमसुम! चांद धीरे-धीरे उस तारे से दूर जा रहा था...!

मैं निकल पड़ा। हैंडबैग में कुर्ता-पाजामा, तौलिया, ब्रश वग़ैरह लेकर। बारह बजे की बस में बैठ गया। प्यास से गला सूख रहा था। बॉर्डर पर बस रुकी तो ठंडा ले लिया। बस खुलने पर मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं बाहर झांक रहा था। पीछे बहुत कुछ छूटता जा रहा था। मैं सोचना नहीं चाह रहा था कि पीछे क्या छोड़कर आया हूं? मैं देखना चाह रहा था आगे आने वाली सड़क को जो हरिद्वार को जाती है। मैंने देखा, आकाश में चांद अकेला था। गुमसुम था। उससे थोड़ी ही दूरी पर एक तारा भी था- उसी तरह अकेला, उसी तरह गुमसुम! चांद धीरे-धीरे उस तारे से दूर जा रहा था...!

सुबह चार बजे मैं हरिद्वार पहुंचा, हाथ-मुंह धोया। फिर नहाने चला गया। गंगा के शीतल जल में डुबकी लगाई, मन-मस्तिष्क शीतल हो गया। निकलकर कपड़े बदले और चाय पीने चला गया। चाय वाले से धर्मशाला का पता पूछा। धर्मशाला में कमरा लेकर सोने गया। जब नींद खुली, दिन के दो बज रहे थे। खाने का बिल्कुल मन से नहीं था। बाहर निकलकर चाय ही पी ली और घाट के पास बैठकर गंगा-भक्तों को देखने लगा। वे स्नान कर रहे थे, पूजा-अर्चना कर रहे थे। प्रसन्न मन बाहर आ रहे थे। मैं शम तक वहीं बैठा रह गया। गंगा की भव्य आरती देखकर ही उठा। गंगा की इस भव्य आरती और वहां उमड़े असंख्य लोगों के बीच अपनी लघुता का एहसास बड़े ज़ोरों से मुझे होने लगा।...दिनभर का उपवास हो ही गया था, मन में आया रात को भी न खाऊं। देखूं तो बिना खाए रहा जा सकता है या नहीं? सिर्फ एक गिलास दूध पीकर रह गया। धर्मशाला में सोने चला गया। सोने की कोशिश की लेकिन नींद नहीं आई। बाहर निकल गया। गंगा के एक एकांत घाट में जाकर लेट गया। ठंडी हवा बह रही थी। वहां नींद आ गई। नींद लगते ही मैंने देखा कि गंगा का जल बढ़ता आ रहा है- बहा चला जा रहा है, इधर पुल पर खड़ी वह हंस रही है।' मेरी नींद खुल गई। मैंने पुल की ओर नज़र दौड़ाई। वह वहां नहीं थी। मैं फिर सो गया।

इस बार मेरी नींद साधु-संतों की चहल-पहल से टूटी। ब्रह्ममुहूर्त था। वे स्नान करने आए थे। एक बाबा स्नान के बाद ध्यान कर रहे थे। मुझसे थोड़ी ही दूरी पर। मैं उनकी ओर ही देख रहा था। उनका ध्यान टूटा। उन्होंने मुझे अपनी ओर आते देखा। उन्होंने आंखों से ही मुझसे प्रश्न किया। मैं उनके पास गया। उन्होंने मुझसे पूछा- ''कहां से आए हो? क्यों आए हो?''

मैंने उन्हें बताया, ''मैं यहीं रहना चाहता हूं। आपके आश्रम में रह सकता हूं?'' मैंने उन्हें बताया भी और पूछा भी। उन्होंने कहा, ''चलो मेरे साथ लेकिन पहले स्नान कर लो।''

मैंने स्नान किया और गीले वस्त्रों में ही उनके साथ चल पड़ा। कोई मीलभर चलने के बाद उनका आश्रम आया। हरा-भरा, पेड़ों, लताओं, फूलों से भरा मुग्ध कर देने वाला वातावरण। मुझे शांति का एहसास हुआ। बाबा ने गेरुए वस्त्र का एक टुकड़ा मंगवाकर मुझे दिया। गीले वस्त्र उतारकर मैंने उसे पहन लिया। आगंतुकों के बैठने के लिए बने चबूतरे पर मुझे बिठाकर बाबा अंदर चले गए। पूजा-पाठ निबटाकर बाहर आए। मुझे फल खाने को दिया और पूछा- ''अब बताओ। तुम यहां क्यों रहना चाहते हो?''

''मानसिक शांति के लिए!'' मैंने जवाब दिया।

''तुम्हें यहां मानसिक शांति मिल ही जाएगी, यह तो जरूरी नहीं!'' बाबा ने कहा। मैं चुप रहा।

बाबा ने फिर पूछा, ''विवाह हो गया?''

''नहीं! करना नहीं चाहता।'' मैंने जवाब दिया।

''फिर?''

''मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या चाहता हूं?''

''तुम्हारे जीवन में कोई है?'' बाबा ने पूछा।

''हां!''

''तो, उसके साथ रहो!''

''डर लगता है।''

''किस बात का?''

''मैं उसे खोना नहीं चाहता। साथ रहने से...!''

''इसीलिए उससे भागते रहते हो?''

''हां!''

''क्या उसके मन में भी यही डर है?''

''शायद! मैं उसे अभी तक ठीक से जान कहां पाया हूं?''

''कोई किसी को नहीं जान पाता!'' कहकर बाबा मौन हो गए। मेरा हाथ लेकर देखने लगे। हथेली की रेखाएं देखकर बोले, ''तुम्हारी रेखाएं भी मेरे ही जैसी हैं। तुम्हें संन्यास-मार्ग में आने में समय लगेगा। विवाह के बाद ही तुम इस मार्ग में आ सकते हो। और अगर इस मार्ग में न आना चाहो तो विवाह मत करो!''

''तो मैं क्या करूं?'' मैंने पूछा।

''वापस लौट जाओ!'' बाबा ने कहा।

''वापस लौटकर?''

''अपने हिस्से की पीड़ा को भोगो।''

मैंने बाबा को प्रणाम किया और वापस गंगा-तट पर लौट आया। वहां फिर से स्नान किया और ऋषिकेश की बस में बैठ गया। ❑

संपर्क : एस.एफ. 22, सिद्ध विनायक अपार्टमेंट, अभयखंड-3, इंदिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद-201010

सोशल मीडिया : पाठकों की लोकतांत्रिक दुनिया

सोशल मीडिया ने न केवल हिंदी साहित्य की सत्ता-संरचना को बदला है बल्कि भाषा-संरचना को प्रभावित किया है। यह निगरानी और नियंत्रण के दौर से आगे निकल साझेदारी और भागीदारी के वातावरण में पहुंच चुकी है, बता रहे हैं **सत्यानंद निरुपम**



हिंदी साहित्य का नया इतिहास भविष्य में अब जब भी लिखा जाएगा, कायदे की बात तो यही होगी कि उसमें सोशल मीडिया और हिंदी साहित्य के संबंध के दौर को उसके पहले के समय से अलग कर आकलन किया जाए क्योंकि हिंदी साहित्य पर सोशल मीडिया का प्रभाव निर्णायक ढंग से पड़ा है। अब यह साफ दिखने लगा है। यह सब कुछ मुमकिन ही नहीं हुआ होता, अगर इंटरनेट पर भारतीय भाषाओं में लिखना-पढ़ना मुमकिन न हुआ होता। पहले बड़े परिवर्तन कुछ अधिक अंतराल पर लक्षित हुआ करते थे। हमने हाल में देखा है कि प्रभाव बहुत जल्दी से परिलक्षित होने लगे हैं। तकनीक इतनी तेजी से बदल रही है कि जब तक कोई बड़ी आबादी उससे अभ्यस्त भी नहीं हुई होती है कि वह कुछ और अग्रिम स्तर पर नए रूप में जनजीवन के बीच हाज़िर हो रही है। पहले ऐसा नहीं था। तकनीक बदलने में कुछ वक्त लगता था। याद करें, रेडियो से टेप रिकॉर्डर के बीच का अंतराल, वॉकमैन का दौर, सब लंबे-लंबे समय तक हमारे जीवन में रसे-बसे। अब हम जब तक कि किसी नई तकनीक को समझते हैं, उससे नई तकनीक सामने आ खड़ी होती है। यही हमारे समय का असल मिज़ाज है। यह किसी भी तरह के वर्चस्व की क्षणभंगुरता के साबित होने का दौर है। इंतज़ार नहीं करना, घटित होते देखना है। ऐसे समय में सोशल मीडिया ने न केवल हिंदी साहित्य की सत्ता-संरचना को बदला है बल्कि भाषा-संरचना को प्रभावित किया है। यह निगरानी और नियंत्रण के दौर से आगे निकल साझेदारी और भागीदारी के वातावरण में पहुंच चुकी है।

दिलचस्प बात यह है कि लेखक और पाठक के बीच, पुस्तक और पाठक के बीच, प्रकाशक-संपादक और लेखक के बीच की दूरी का कम होना। सब एक ही प्लेटफॉर्म पर एक-दूसरे के साथ संवाद कर रहे हैं। एक-दूसरे से सहमत-अहमत हो रहे हैं। सबके नए कामों की जानकारी सबको मिल रही है।

मेरे जैसे व्यक्ति के लिए सोशल मीडिया का बड़ा योगदान है, नए और वांछित लेखकों की पहचान कर पाना। उन तक आसानी से पहुंच सकना। उनकी भाषा, उनके लहजे, उनकी लेखकीय संभावना को समझते हुए, पाठक समाज की जरूरत के मुताबिक उनसे पुस्तक लिखवा सकना।

यही नहीं पुस्तकों के लिए लेखकों को सोशल मीडिया पर आसानी से प्रकाशक मिल रहे हैं, बल्कि पाठक भी मिल रहे हैं। सेल्फ़-पब्लिशिंग जैसी धारणा भी इसकी वजह से आसान बन गई है।

गंभीर साहित्य और लोकप्रिय साहित्य के प्रसार में सोशल मीडिया की भूमिका प्रभावी तो है ही। अगर सोशल मीडिया को हमारे समय से घटा कर देखें तो और कोई ऐसा प्रभावी जरिया नहीं है, जिससे लक्षित पाठक तक कोई भी प्रकाशक या लेखक अपनी किसी पुस्तक को इतनी आसानी से पहुंचा सकता हो। इस प्लेटफॉर्म की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इसके जरिए न केवल पुस्तक के बारे में लोगों को बताया जा रहा है बल्कि बेचा भी जा रहा है और लोग खरीद कर पढ़ने के बाद इसकी ख़बर भी वहां साझा कर रहे हैं। कई लोग पढ़कर अपनी संक्षेप में या विस्तार में राय भी रख रहे हैं। कोई किसी पुस्तक के बारे में अपनी राय जब अपने मित्रमंडली में साझा कर रहा है तो और लोग उस राय से सहमति-असहमति जता रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया में लगातार पुस्तक की चर्चा बढ़ती जा रही है और दूसरे वे लोग जो उसे नहीं पढ़ पाए हैं, उनमें उसके प्रति उत्सुकता बढ़ती जा रही है। प्रकाशक और लेखक अपनी पुस्तक के बारे में लोगों तक जानकारी पहुंचाने का काम यहां पोस्टर, ऑडियो, वीडियो जैसे कई माध्यमों से असरदार ढंग से, बड़ी आसानी से कर ले रहे हैं। दरअसल, सोशल मीडिया लोकप्रिय साहित्य के प्रसार के लिए एक तरह का 360 डिग्री सोल्यूशन है।

एक दौर बीच का वह भी था जब हिंदी के बहुत सारे लेखकों की बहुत-सी पुस्तकों को पढ़ने के लिए उपलब्ध कर पाना दुर्लभ मामला था। बहुत सारी पुस्तकें जो प्रकाशकों के यहां आउट ऑफ प्रिंट हो गईं वो पढ़ने की दुनिया से बाहर हो गई थीं। बहुत सारे लेखकों के नाम बिसर से गए थे। वे सब अब फिर से पढ़ने के लिए उपलब्ध हैं। बातचीत का हिस्सा हैं। माखनलाल चतुर्वेदी के जन्मदिवस पर इस बार वे ट्विटर पर ट्रेंड कर रहे थे। उनकी कविताएं वहां लोगों ने इतना अधिक साझा किया कि लगा ही नहीं कि यह कवि कभी हमारी दिलचस्पी और चर्चा की दुनिया से बाहर भी हुआ था।

आज सुरेन्द्र मोहन पाठक जैसे जासूसी लेखक की साहित्यिक संगतों में व्यापक स्वीकार्यता देखिए। उनके पाठकों की संख्या लाखों में हमेशा रही है। बावजूद उन पर क्या कभी साहित्यिक पत्रिका या गोष्ठी में बात हुई थी? या उनको कहीं साहित्यिकों के साथ बोलने के लिए बुलाया गया? नहीं। सोशल मीडिया पर उनके पाठकों ने उन पर नए सिरे से बहस छेड़ी तब जाकर आज यह माहौल बना है।

फेसबुक पर लिखी छोटी-छोटी कहानियों का प्रकाशन 'लप्रेक' नामक पुस्तक शृंखला में हुआ। मात्र पहले 13 महीने में इस सीरीज की पहली पुस्तक 'इश्क में शहर होना' की 15000 प्रतियां बिक गईं। यह पारंपरिक

आलोचना-समीक्षा और पारंपरिक बाज़ार के दौर में मुमकिन न था। सुना है, अब मैथिली भाषा के लोगों ने भी लप्रेक लिखे हैं और उनको पुस्तक के रूप में छापा है। उस भाषा में भी इस पर बहस छिड़ी हुई है। एक छोटी सी शुरुआत जो युवा पीढ़ी को भा गई वह भाषा की सीमा को पार कर अपना छाप छोड़ रही है। उसकी ऐसी व्याप्ति इसी दौर में मुमकिन थी।

ऐसे कई लेखक पिछले 4-5 सालों में हमारे सामने आए हैं और उनकी पुस्तकों ने पाठकों में सम्मान पाया है जो शुद्ध रूप से सोशल मीडिया की देन हैं। उनको संपादक या प्रकाशक तक पहुंचने के लिए अतिरिक्त संघर्ष नहीं करना पड़ा। उनको बरसों अपनी स्वीकार्यता का इंतज़ार नहीं करना पड़ा। हां, उनके लेखन में ताजगी थी, कहने को उनके पास बात थी। इसलिए भी वे जल्द लक्षित हुए, सफल हुए। बहुत नए, नौजवान लेखक अधीरता के शिकार हो रहे हैं। यह कोई बहुत अच्छी स्थिति नहीं। माध्यम आपको लोकप्रियता दे रहा है लेकिन आपके लेखन की मंजाई ही आपको व्यापक स्वीकार्यता दिला सकती है। यह भी विचारना जरूरी है।

सोशल मीडिया दरअसल पाठकों की लोकतांत्रिक दुनिया है। यहां आलोचक और प्रोफेसर की नहीं, पाठक की राय असल है। किसी भी पुस्तक के बारे में सबके मत बहुत तेज़ी से टकराते हैं और ऐसे में अच्छी पुस्तक मुस्कुराती है। किसी कमज़ोर पुस्तक को जबरिया महान बनाना किसी के लिए भी आसान नहीं रहा। और किसी पुस्तक को 'हलकी', 'पॉपुलर किस्म की', 'घासलेटी' कहकर पाठकों से दूर करना भी कठिन हो गया है। यह तमाम तरह की पाठकीयता के विस्तार के लिए सबसे अच्छी स्थिति है। यही वजह है कि नित निरंतर इधर पाठकों का दायरा हर विधा में बढ़ रहा है। वह बहस अब निरर्थक है कि हिंदी में 'पाठक कहां हैं' अगर आपको उनसे मिलना हो तो पुस्तक मेलों का ही इंतजार करने की जरूरत नहीं, सोशल मीडिया पर आ जाइये। ❑

संपर्क : 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

सोशल मीडिया के डिजिटल संस्कार

पृष्ठ 9 से आगे

बढ़ जाने का सामाजिक-मनोवैज्ञानिक नकारात्मक असर होता है। इससे लत और अवसाद की जुगलबंदी पैदा होती है। क्या सोशल मीडिया नेटवर्क में गालियों का वही स्थान है जो उसे हमने सामाजिक जीवन में दिया है? क्या सोशल मीडिया गालियों से ऊर्जा प्राप्त करता है? गालियां संवादहीनता का संकेत है ।

फेसबुक आने के बाद विरही-विरहिणियों की संख्या बढ़ी है या घटी है? विरह का प्रसार हुआ है या अवसान हुआ है? मनमाने ढंग से अपनी बात कहते-कहते ऐसा भी कुछ सुनने को मिल जाता है जो पहले कभी नहीं सुना था। कहने के स्रोत में जब ज्वार आता है तब न जाने किस गुफा के भीतर की अनजान सामग्री बहती-बहती आकर घाट पर लग जाती है। क्या आपने ऐसा अनुभव किया है?

सौंदर्य मनुष्य को संयम की ओर खींचता है, शालीनता का विकास करता है। इसके अलावा हमारी क्षुध तृप्ति के साथ-साथ सदा उच्चतर सुर जगाता है। फेसबुक ने आम लोगों, ख़ासकर मध्यवर्ग के लोगों में झूठ बोलने, फुसलाने, हां में हां मिलाने या निरर्थक समय खर्च करने की आदत में इज़ाफ़ा किया है। छद्म या आभासी यथार्थ में जीने की भावना को पुख़्ता बनाया है। आदमी के संचार-संप्रेषण को तेज़ किया है लेकिन संचार, समाज, व्यक्ति और वस्तु के बीच में महा-अंतराल पैदा किया है। फेसबुक प्रयोक्ताओं की संख्या 70 करोड़ के करीब हो गई है। आश्चर्यजनक बात है कि अमरीका में फेसबुक प्रयोक्ताओं की संख्या में 60 लाख की गिरावट आई है। इसी तरह कनाडा, रूस, ब्रिटेन, नार्वे में फेसबुक प्रयोक्ताओं की संख्या घटी है लेकिन विकासशील देशों में बढ़ रही है। क्या अमरीकी लोग त्रस्त हैं फेसबुक से? क्या फेसबुक सामाजिक-भावनात्मक अलगाव पैदा कर रहा है? फेसबुक की खूबी है 'जान ना पहचान मैं तेरा मेहमान', अनजाने लोगों से राजनैतिक-सामाजिक चर्चा तो ठीक है लेकिन भावनात्मक बातें करना, व्यक्तिगत जानकारियां देना ख़तरनाक है। ❑

संपर्क : ए-8, पी.1/7, 7-एम, सीआईटी स्कीम, कोलकाता-700054 (पश्चिम बंगाल)

लेखकों से अनुरोध

(1) 'आजकल' साहित्य और संस्कृति की मासिक पत्रिका है। इसमें साहित्य, संस्कृति के विविध उपांगों- कला, इतिहास एवं लोक जीवन से संबंधित रचनाएं-आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। लेखकों से अनुरोध है कि प्रकाशन हेतु पत्रिका के निर्दिष्ट क्षेत्र के अनुरूप ही रचनाएं भेजें।

(2) रचनाएं भेजते समय रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। सामान्यत: रचनाएं वापस नहीं भेजी जातीं। रचना की वापसी के लिए यथा उचित मूल्य के टिकट और पता लिखा लिफ़ाफ़ा भेजें। प्राप्ति की सूचना, स्वीकृति-अस्वीकृति के लिए पोस्टकार्ड लगा सकते हैं। रचना के संबंध में फोन पर जानकारी देना संभव नहीं है।

(3) भारतीय और विदेशी भाषाओं से अनूदित रचना के साथ रचनाकार की अनुमति, मूल रचना का शीर्षक, प्रकाशन वर्ष और रचनाकार एवं अनुवादक का परिचय अवश्य भेजें।

(4) ई-मेल से भेजी जाने वाली रचनाएं 'वाकमैन 905' और 'कृतिदेव 10' फांट में टाइप करके ई-मेल :

ajkalhindi@gmail.com पर भेजी जा सकती हैं। साफ़-साफ़ हस्तलिखित रचनाओं का भी स्वागत है।

(5) **संपादकीय पत्र व्यवहार** का पता है :

संपादक 'आजकल', प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 601डी, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, फ़ोन : 011-24362915

पुरुषों की सोच का प्रतिबिंब है सोशल मीडिया

प्रख्यात लेखिका ***मैत्रेयी पुष्पा*** *से* **कल्पना कुमारी** *की बातचीत*

एक साहित्यकार को सोशल मीडिया पर सक्रियता से कितना लाभ मिलता है?

यह सही है कि एक साहित्यकार की हैसियत से सोशल मीडिया पर मैं सक्रिय रहती हूं। फेसबुक पर ज्यादा सक्रिय रहती हूं। ट्वीटर पर भी हूं लेकिन वहां फेसबुक की तरह तुरंत फ़ीडबैक नहीं मिलता। इसलिए वहां ज्यादा वक्त नहीं लगाती हूं। लोग कहते हैं कि सोशल मीडिया का बहुत नुकसान है। मैं मानती हूं कि यहां बहुत से ग़ैर-जरूरी पोस्ट भी आते हैं लेकिन इसके कुछ फ़ायदे भी हैं। हम इसके माध्यम से लेखकों, पत्रकारों, नाट्यकर्मियों से सीधे जुड़े रहते हैं। उससे हमें बहुत तरह की प्रतिक्रियाएं मिलती हैं। ऐसा जुड़ाव किसी और माध्यम में नहीं है। यहां बहुत ही तेज़ी से जवाब मिलते हैं, चाहे जवाब देने वाला कहीं भी बैठा हो, लगता है बहुत करीब है, सामने बतिया रहा है। तुरंत सही, ग़लत का पता चल जाता है।

साहित्यकार की शख़्सियत में सोशल मीडिया से हल्कापन नहीं आता?

हां, इसमें थोड़ा हल्कापन भी आता है। यह सही है लेकिन ये तो रचनाकारों के ऊपर निर्भर करता है कि वो कैसे स्टेटस डालते हैं और उसके बदले वह कैसा जवाब चाहते हैं। आख़िर जवाब तो जनता से ही आता है न। चाहे किताब लिखें, चाहे हम सोशल मीडिया पर लिखें, चाहे सिनेमा पर लिखें या सिनेमा बनाएं लेकिन फ़ीडबैक तो समाज से ही आता है। जिसे हम हल्का कहते हैं, जिसे हम बुरा कहते हैं, जिसे हम अच्छा कहते हैं वह सब भी तो समाज का ही हिस्सा है। उससे हम भाग तो नहीं सकते। एक किताब हम बहुत ही गंभीरता से लिखते हैं लेकिन वह किताब उसके हाथों में भी जाती है जो बहुत गंभीर नहीं है या जो बहुत हल्केपन से पढ़ते हैं। हम वैसे लोगों के पास न जाने से रोक तो सकते नहीं। जब साहित्य प्रकाशित हो गया या विचार सोशल मीडिया पर पोस्ट हो गया तब तो वह सार्वजनिक हो गया। लोग तो कुछ भी राय दे सकते हैं। आप हल्केपन पर मत उतरिए। वैसे हल्की टिप्पणियां भी तो फ़ीडबैक हैं। मैं तो हमेशा लिखती रहती हूं कि मैंने जो कुछ भी लिखा, वह केवल तारीफ़ या आलोचना के लिए नहीं है। टिप्पणियों से हमें समाज की सोच का फ़ीडबैक मिलता है। उससे हमें हमारे समाज की थाह मिलती है। हमें पता चलता है कि हमारा समाज कितना बदला है। समाज क्या सोच रहा है। आख़िर ये समाज स्त्रियों के लिए, दलितों के लिए, वंचितों के लिए अब कितना बदला है, ये उस जवाब से पता चलता है। ये तो फ़ायदा है ही इस सोशल मीडिया का। इससे हमें राजनैतिक और सामाजिक बदलाव से जुड़े कई जवाब भी मिल जाते हैं। अगर कोई फ़ायदा नहीं दिखता तो मैं क्यों इस पर इतना सक्रिय रहती।

सोशल मीडिया से मिली प्रतिक्रियाओं को अपनी रचनाओं में कभी उपयोग किया है?

नहीं, सोशल मीडिया को लेकर हमने साहित्य नहीं रचा लेकिन उस मोर्चे पर ही लोगों को जवाब देती हूं। इससे मन में एक ख़ाका बनता है।



यहां मुझे समीक्षकों की राय मिलती है। इससे मुझसे पता चलता है कि समीक्षक क्या चाहते हैं। यह अख़बारों से भी पता चलता है लेकिन अब तो अख़बारों में साहित्य के लिए उतनी जगह ही नहीं रही। उसके मुकाबले सोशल मीडिया पर साहित्य काफ़ी बढ़ा है। हां, वैसे यह सही है कि सोशल मीडिया पर साहित्य उतना गंभीर नहीं आता, थोड़ा हल्कापन आता है। यहां वैसा साहित्य नहीं जैसाकि हम पत्रिकाओं या किताबों में प्रकाशित करवाते हैं। जैसे मंचीय कवि होते हैं उसी तरह यहां बहुत से कवि, कवयित्रियां हैं लेकिन सारे नहीं हैं। इन्हीं में से कुछ अच्छी चीज़ें भी निकलकर आ जाती हैं।

सोशल मीडिया पर प्रयुक्त भाषा क्या साहित्यिक भाषा के लिए ख़तरनाक नहीं है?

हां, भाषा में हल्कापन आया है। हालांकि इसमें भी अंतर है। जैसेकि अगर मैं लिखती हूं तो भाषा को संयत रखती हूं लेकिन नई पीढ़ी को भाषा को मांजने की सीख नहीं मिल पा रही है। यह सीख संपादक से मिलती है। जब हम रचनाएं लिखते हैं और उसे प्रकाशित होने के लिए संपादक के पास भेजते हैं लेकिन जब संपादक उसे वापस कर देते हैं तो उसमें कुछ हल्कापन देखकर ही वो वापस करते हैं। ऐसे में हमें अपनी रचना का फिर से खुद ही मूल्यांकन करना चाहिए। भाषा के लहजे को मांजना चाहिए।... तो साहित्य में तो नई पीढ़ी को यह सीख मिल जाती है लेकिन सोशल मीडिया पर कोई प्रतिबंध नहीं है। कोई व्याकरण नहीं है जिसके जो मन में आता है वह भाषा लिखता है लेकिन ऐसा सबके साथ नहीं है। यहां भी काफ़ी लोग अच्छी भाषा में लिखते हैं। कई बार अच्छी कविताएं आती हैं। अच्छे स्टेटस आते हैं। उन्हें पढ़ने में अच्छा लगता है। केवल एक चीज़ मुझे यहां बुरी लगती है वह है ख़राब चित्र। इसको देखते ही घबराहट होती है। सोचती हूं इसे कैसे हटाएं! इसके अलावा गाली-गलौज खूब होती है। हालांकि साहित्य में भी गाली-गलौज होती है लेकिन वहां हम पन्ने को फाड़ नहीं सकते। कहने का आशय यह कि फेसबुक या अन्य सोशल मीडिया को हम रचनात्मक फोरम बनाएं तो यह सबके लिए बहुत अच्छा है।

सोशल मीडिया पर सक्रियता से रचनात्मकता प्रभावित होती है या रचनात्मकता में नई धार आती है?

रचनात्मकता प्रभावित भी होती है, लेकिन अब के लोगों का कहना है कि ये सोच और बातें पुरानी हो गई हैं। नई भाषा आ रही है। हिंदी का लेखन बदल रहा है। स्वाभाविक प्रवाह को तरजीह दी जा रही है। हम 'समय' के बदले 'टाइम' कहते हैं। गांव में भी आमलोग 'समय' के बदले 'टैम' बोलते हैं। सोशल मीडिया पर यही लहजा देखने को मिलता है। हम 'समय' के बदले 'टाइम' शब्द लिख देते हैं लेकिन जब साहित्य लिखने बैठते हैं तो 'समय' शब्द का ही इस्तेमाल करते हैं। यह अंतर है। इस फ़ोरम पर हम ही लेखक हैं, हम ही संपादक। ऐसे में रचनात्मकता के स्तर में गिरावट तो आई है। काफ़ी असर हुआ है। गहराई कम हो रही है। गंभीरता घट रही है।

डिजिटल फ़ोरम पर साहित्य के आने से क्या उन साहित्यकारों को ज्यादा लाभ मिल रहा है जिन्हें नई तकनीक सरलता से उपलब्ध है?

नहीं, ऐसा नहीं है। दूर-दराज़ में भी लोग अब स्मार्ट फोन खूब इस्तेमाल कर रहे हैं। ज्यादा दूर की बात न करूं तो मैं झांसी की ही बात कर लूं। जब भी वहां जाती हूं तो वहां की लड़कियां कहती हैं हम आपका सबकुछ पढ़ लेती हैं। तो हम पूछ लेते हैं-कहां पढ़ती हो? तो वो कहती हैं फेसबुक पर। फिर मैं पूछती हूं क्या तुम मेरी फेसबुक फ्रेंड हो? नहीं, फॉलोइंग में हूं। तो ये हाल है छोटे शहर और गांव के लोगों का भी। मैं उन परिवारों में लड़कियों को वहां फोन, कंप्यूटर का इस्तेमाल करते हुए देखती हूं जो पहले पढ़े-लिखे भी नहीं थे। वहां के लेखक भी महानगरों के प्रभाव में हैं। मैं अगर कुछ स्टेटस डालती हूं तो उस पर कमेंट्स बांदा से, दतिया से भी आ जाते हैं। ये तो बहुत छोटी जगहें हैं तो तकनीक बहुत फैल गया है।

साहित्य का डिजिटलीकरण पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय पर कितना असर डाल रहा है?

प्रकाशक भी तो अब डिजिटल पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। ख़ैर! देखिए जब टीवी आया, तो लगा रेडियो खत्म हो जाएगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ। बाद में लोगों ने रेडियो की ताकत और उपयोगिता को समझा और आज की तारीख़ में देखिए तो कितने रेडियो केंद्र हैं। न्यूज़ चैनलों के आने के बाद अख़बारों के बारे में भी यही कहा गया लेकिन अख़बार गए? नहीं। ये नया माध्यम है। इसलिए फिर इसके बारे में भी वैसा ही कहा जा रहा है। जिन देशों से ये तकनीक क्रांति का असर आया है वहां भी तो किताबें हैं। वहां भी तो पुस्तक संस्कृति है। इसलिए यह कहना कि ई-बुक्स या एप वग़ैरह किताबों के प्रकाशन को खत्म कर देंगे, ऐसा नहीं है क्योंकि किताबों के साथ कुछ सुविधाएं हैं। किताबें आज भी हम बैग में रखकर चल देते हैं। उसे बिजली, बैट्री की जरूरत नहीं पड़ती। उसे पढ़ने के लिए रिचार्ज नहीं करना पड़ता। बस थोड़ी सी रोशनी में भी पढ़ लेते हैं। किताबों, पत्रिकाओं को अकेले में बड़े ही सलीके से आत्मसात् करते हैं। किताबों के पन्ने पलट कर पढ़ना अलग ही सुख देता है।...तो ये जो आपने फेसबुक, ट्वीटर, ब्लॉग, ई-पत्रिका आदि के प्रभाव की बात कही है उनकी भी अपनी जगह है लेकिन कोई किसी की जगह को खत्म नहीं कर सकता है। ई-बुक्स हमारी किताबों को खत्म नहीं कर सकतीं।

महिला मुद्दों को आगे बढ़ाने में सोशल मीडिया कितना प्रभावशाली है?

मैं सोशल मीडिया पर महिला मुद्दे को खूब उछालती रहती हूं। इससे यह पता चलता है कि हमारा समाज कितना बदला है। समाज के पुरुष कितने बदले हैं। महिलाओं को लेकर लोगों की सोच और धारणा कितनी बदली है। मेरे ख्याल में अभी पुरुष दस फ़ीसदी भी नहीं बदले हैं। मेरे सारे स्टेटस प्रमाणित करते हैं कि किसी मुद्दे पर पुरुष क्या सोचते हैं और स्त्रियां क्या कहती हैं। स्त्रियां बहुत बदली हैं लेकिन उतना पुरुष नहीं बदले। पुरुषों को अभी नब्बे प्रतिशत और बदलना है।

पुरुषों में कैसा बदलाव चाहती हैं? सोशल मीडिया इसमें क्या भूमिका निभा सकता है?

मैं यह बदलाव नहीं चाहती कि पुरुष भी चौका-बरतन करे, सोच में बदलाव, मानसिकता में बदलाव लाना है। वह हालात को, व्यवस्था को समझे। दिखावा न करे। अपने भीतर संवेदनाएं पैदा करे। एक बार मैंने लिखा था- पत्नी की कमाई से डर नहीं लगता पत्नी के कैरियर से डर लगता है। मैं कई बार विश्वविद्यालयों में व्याख्यान के लिए जाती हूं। वहां जो महिला प्रोफेसर हमारे साथ गाड़ी में मिलती हैं उनसे बात करने पर ऐसे ही चौंकाने वाले अनुभव मिलते हैं। वो आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर हैं। शिक्षित हैं। स्वतंत्र हैं लेकिन उनकी बातें सुनकर लगता है वह फिर भी आज़ाद नहीं हैं। तो, ये जो महिलाओं की फ़ीलिंग हैं वह पुरुष नहीं समझ पा रहे हैं। कभी कोई बात होने पर कहां क्या कमी है ये पुरुष नहीं सोचता है। वह हमेशा महिलाओं को दोषी साबित करने पर तुला रहता है। ये तो सोचिए कि पाखंड या स्त्री धर्म के नाम पर महिलाओं पर क्या-क्या जवाबदेहियां थोप दी गई हैं। इसीलिए मैं कहती हूं कि सेवा, श्रम और सेक्स महिलाएं जब तक प्रदान करती हैं तब तक सब ठीक है लेकिन जैसे ही इनमें से कुछ भी मना किया तो उस पर आफ़त आ जाती है। ये सारे अनुभव मुझे उन महिलाओं के साथ बात करने पर मिलते हैं। ये महिलाएं महानगर की हैं, ग्रामीण भी।

मैं तो महिलाओं को भी बदलने के लिए कहती हूं। एक बार मैंने सरोगेट मदर के बारे में लिखा था। सरोगेट मदर को बढ़ावा देने में महिलाओं का भी हाथ है। आख़िर यह ग़रीब परिवारों में क्यों नहीं देखने को मिलता? ज्यादातर अमीर परिवारों में ही क्यों देखने को मिलता है? दो स्त्रियां मिलकर एक पुरुष पर समर्पित होती हैं। क्यों? अगर बच्चे की इतनी ही चाह है तो अनाथालय से गोद क्यों नहीं ले लेते? उस बच्चे को भी सामाजिक पहचान मिलेगी। अच्छा घर, रहन-सहन मिलेगा। आज की पढ़ी-लिखी, शिक्षित नौकरीपेशा औरतों में ये समझ भी तो आनी चाहिए। इसलिए मैं कहती हूं कि जैसे पुरुषों को अभी बहुत बदलना है, उसी तरह स्त्रियों को भी विवेक के साथ, चेतना के साथ बदलना है। केवल कपड़े बदलने से परिवर्तन नहीं आ जाता। केवल सेक्स की बातें करने से आज़ादी नहीं मिलेगी। ज़रा सोचिए कि वे अगर बच्चे को जन्म देने के लिए एक स्त्री को किराए पर ख़रीद सकते हैं तो किसी ग़रीब महिला की मदद क्यों नहीं कर सकते? तो सोशल मीडिया पर मैं ऐसे तमाम मुद्दे उठाती रहती हूं। मैंने हमेशा कहा है कि बदलाव मिलकर चलने से आएगा, लड़ने से नहीं। मैंने अपने जीवन में जो कुछ भी हासिल किया है, वह घर में सामंजस्य स्थापित करके किया है। बहुत आसान था परिवार से अलग हो जाना लेकिन थोड़ा मैं आगे बढ़ी, थोड़ा घरवालों को समझाया फिर रास्ता तय किया। सोशल मीडिया पर महिलाओं के मुद्दों को उठाते हुए हमेशा इसी नज़रिए से पुरुषों और महिलाओं दोनों से अपने विचार शेयर करती हूं। समाज में महिलाओं के प्रति सोच में बदलाव लाने के लिए यह एक बहुत ही कारगर माध्यम है, अगर ठीक से इस्तेमाल हो तब। ❑

संपर्क : 37-ए, गली नं. 3, प्रताप नगर, मयूर विहार-I, दिल्ली-110091

बिखरती-सिमटती दुनिया में सोशल मीडिया और साहित्य

दुनिया बहुत तेज़ी से आगे बढ़ती दिख रही है। एक 'ग्लोब' में सिमटी दुनिया बहुत ही चौंकाने लगी है। मशीन के प्रति निर्भरता बढ़ी है। मशीन ने जीवन को भी एक यंत्र में बदल दिया है। एक समय था, संयुक्त परिवार की खट्टी-मीठी, नोक-झोंक और खटर-पटर भरी हरकतों से घर-आंगन शोभायमान था। लोक संस्कृतियों की ध्वनियों से खेत-खलिहान गुलज़ार थे। स्नेह की खुश्बू से बाग-बगीचे की गमक, जीवन में रंग भर जाया करते थे। भोर की शुरुआत पंछी की कलरव से होती थी। भोजन की पंगत परिवार के ठिठोली से शुरू होती थी। रिश्तों की गरमाहट आस-पास के माहौल को खुशनुमा बनाए रखते थे। महुए की ठोस-ठसक, आम का टपकना, निंबोली के पीलेपन का लुभाना, खेतों की पगडंडी से गुज़रती हवा के संग-संग उछलना-कूदना, अब यह सब कुछ अतीत हो चुका है। अतीत होते वक्त में बहुत कुछ ऐसा है जिससे वर्तमान को झिंझोड़कर, निचोड़कर कुछ बेहतर रोपा जा सकता है।



समय के साथ सब बदल गया है। सोशल मीडिया के माध्यम से साहित्य की दुनिया में विस्फोट हुआ है। इस दुनिया में सक्रिय व्यक्ति इसके पक्षधर, हिमायती और अंध-प्रशंसक हैं। एक वह वर्ग भी है, इन माध्यमों से दूर है, बावजूद इसके अच्छाई-बुराई से अवगत है। साहित्यिक दुनिया में दख़ल है। जीवन और समाज के प्रति एक अलग ही दृष्टिकोण है। बेशक हर दौर की अपनी खूबियां-ख़ामियां रही हैं। उन दौरों में चुनौतियां भी कम नहीं थीं। उन चुनौतियों के बीच स्वयं को स्थापित बनाए रखना भी एक बड़ी जद्दोजहद का हिस्सा हुआ करता था। प्रतियोगिता के उस तनाव से दूर अपनी पहचान बनाने को लेकर गंभीरता दिखाई देती थी। यह आज भी दिखाई देता है। बस तरीका बदल गया है। अंदाज़ बदल गया है। माध्यम बदल गए हैं। बदले माध्यम को सहजता से पचाना कठिन है।

किसी ज़माने में छपने के लिए लंबे समय तक इंतज़ार करना होता था तब जाकर कोई चीज़ छपती थी। उस छपने की जो खुशी होती थी वह आनंद इन माध्यमों में कहां है ? जब जी चाहा टिप दिया। क्षणिक आनंद ने लंबे समय के आनंद को ही बदल दिया है। रचनाओं के प्रति गंभीरता न के बराबर रह गई है। हम प्रतिस्पर्धा के पागलपन में इस कदर डूब गए हैं कि सही-ग़लत की पहचान से भी विगलित हो गए हैं। रातों-रात स्टार बनने की सोच ने जीवन की दिशा ही बदल दी है। साहित्य के प्रति साधना की भावना बर्बाद सी हो गई है। अगर कुछ बचा है तो वह छपास और चर्चा में बने रहने की ललक। ऐसा नहीं है कि यह बात सभी पर लागू होती है बस ज्यादातर इसके शिकार दिखाई देते हैं। छपने की भूख इस कदर बढ़ चुकी है कि किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। अपनी जेबें ढीली कर सकते हैं। स्वयं के जेब खर्च से कार्यक्रम का आयोजन कर सकते हैं। इतना ही नहीं अपने ही समूह में रहकर नित्य-प्रति समीक्षा छपवाने की जुगाड़ में भी घुलते रहते हैं। उस दौर में यह बातें दीगर थीं। समृद्ध सोच के बीच संकोच का सघन बादल मंडराता रहता था।

सोशल मीडिया और साहित्य को लेकर जब हम उन लोगों से मिले, चर्चा छेड़ी तो बहुत कुछ निथरकर सामने आया। वरिष्ठ लेखकों का एक वह वर्ग है जो इन माध्यमों पर बहुत ज्यादा सक्रिय है। जैसे मैत्रेयी पुष्पा, उदय प्रकाश, चित्रा मुद्गल, गंगाप्रसाद विमल, अर्चना वर्मा, सुधा अरोड़ा, कात्यायनी, हरवंश मुखिया, निरंजन श्रोत्रिय, मृदुला गर्ग, मंगलेश डबराल, रमेश उपाध्याय जैसे तमाम लेखक गण मौजूद हैं। इसके पक्षधर हैं। बहुतेरे ऐसे भी हैं जो दोनों को बराबरी के पलड़े में तौलते हैं। अनामिका, नामवर सिंह, राजेंद्र यादव, सुशील सिद्धार्थ, विवेक मिश्र, सुधाकर अदीब, अजीत कुमार जैसे तमाम कलमकार ऐसा कहते हैं। अनामिका कहती हैं कि उस माध्यम पर सक्रिय नहीं हूं लेकिन उसके दूसरे वर्जन को निरंतर पढ़ती रहती हूं। इससे नए-नए लोगों के तौर-तरीके से कुछ नया आइडिया मिल जाता है।

एक ऐसा वर्ग है जो साहित्य के इस मकड़जाल को स्वीकारता तो है लेकिन उससे सृजन की गंभीरता को नकारता है। कम समय में अधिक प्रसिद्ध होने की भावना को सही नहीं ठहराते हैं। अपने-अपने समय और दौर के उदाहरण से उनके चेहरे के भाव में एक गर्व दिखाई देता है। जैसे कुंवर नारायण, काशीनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह, कृष्णा सोबती, राजेश जोशी, शेखर जोशी, नासिरा शर्मा, मन्नू भंडारी, कृष्णा शर्मा, ममता कालिया, नित्यानन्द तिवारी, विश्वनाथ त्रिपाठी, रामदरश मिश्र, विष्णु खरे सहित अनगिनत नाम हैं जो इस माध्यम की मजबूरी को साहित्य की परिधि से जोड़कर नहीं देखते हैं बल्कि कलम की ताकत को स्वीकारते हैं।

परिचर्चा के केंद्र में टिप्पणी है। 'प्रश्न एक, जवाब अनेक' के अंतर्गत सोशल मीडिया का अंतर्जाल एक अंतर्विरोध का भी कारण है। यह विरोध वैचारिकी से लगायत सृजन की गहनता तक है। अपने-अपने समय की स्मृति में छिपे श्रम की अनुगूंज भी है। जिस दौर में छपने-छापने और पाठक तक पैठ बनाने में सालों लग जाते थे, उसी के दूसरे दौर में सब कुछ पलक झपकते हासिल हो जाने की लत ने श्रमशील कलम को कुंद किया है। उस कुंदता से लेखक का एक समूह संतोष प्रकट करता है लेकिन अपने समय के स्वर्णिम पलों से नैनों के कोरों को भी भिगो लेता है। आइए देखते हैं कि सोशल मीडिया की त्वरित दुनिया को इस दुनिया से लगभग अनजान लेखक क्या सोचते हैं ... **रमेश यादव**

शोर करती भीड़ की उम्र बहुत लंबी नहीं होती

शेखर जोशी (साहित्यकार)

साहित्य के चेहरे नहीं हैं बल्कि काल हैं जिसका विभाजन लेखन, युग, दौर और रचना के भाव पर आधारित है। जिनका विभाजन ऐसे ही क्षण में नहीं हुआ है बल्कि लंबे समय तक शोध , अनुसंधान और जांच-पड़ताल के पश्चात कार्यरूप में परिणित किया जा सका है।



सोशल मीडिया के स्वरूप से मौजूदा दौर का दृश्य बखूबी देखा जा सकता है। इसके लिए शब्द खर्चने की जरूरत नहीं है। नई-नई वस्तु का क्रेज़ बहुत ज्यादा होता है लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे क्रेज़ खत्म होता जाता है। उसका स्थान एक प्रौढ़ता ले लेती है। सोशल मीडिया पर भी यह बात बखूबी लागू होती है। शोर करती भीड़ की उम्र बहुत लंबी नहीं होती या तो सब हासिल होता है या फिर सब कुछ खो जाता है।

मेरी नज़र में साहित्य एक साधना है। एक साधक से पूछेंगे कि उसकी साधना का प्रतिफल क्या होता है तो वह अपने साध्य को बड़े ही गर्व से उच्चारित करेगा। उसकी जटिलता से गुज़रने के बाद छपने का संदेश मिलने को शब्दों में बयां नहीं कर सकते हैं। मैं पहाड़वासी हूं। हिमालय से अनन्य लगाव है। बर्फ के टुकड़ों को तरल होते देखना कष्टमय है। ठीक वैसे ही साहित्य का सतही हो जाना खलता है। नएपन के नाम पर प्रयोग खटकता है। एक वर्ग के अस्तित्व का बदल जाना दु:ख देता है। मौजूदा दौर को हम अभी रोक नहीं सकते हैं क्योंकि यह एक उत्थान का दौर है। उत्थान और पतन के बीच एक बारीक रेखा होती है। उस महीन रेखा में ही साहित्य और समय का गौरवान्वित क्षण कैद होता है। एक ऐसा पर्दा जिसके पीछे का सच सबकी उत्सुकता का केंद्र होता है।

सोशल माध्यमों के विस्तार ने उस पर्दे को इस कदर जालीदार बना दिया है जिसके अनगिनत छिद्रों से कुछ भी छिपा नहीं रह सकता है। जिज्ञासा की प्रवृत्ति खत्म हो रही है। एक स्थान पर बैठे-बैठे संपूर्ण दुनिया का चित्रण करना वैसे ही है जैसे कि इतिहास में दर्ज तथ्य को पढ़कर कहानियां गढ़ लेना या दिमाग़ के शिलापट्ट पर रेखाचित्र उकेर लेने जैसा है। किसी से किसी के बारे में सुनकर राय बना लेना, उसके साथ रहकर अनुभव कर लेने जितना अंतर होता है। जिस स्थान पर हम भ्रमण किए ही नहीं उस स्थान के चित्रण का दावा करने व सुनकर लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी है। माना कि साहित्यकार सत्य के करीब, कल्पना के पट से भाव को व्यंजित करता है लेकिन सोशल माध्यमों में यह दीगर तरीके से दिख पड़ता है। जिस पर समय रहते ही सचेत हो जाने की जरूरत है वर्ना साहित्य की एक समृद्ध परंपरा बहुत हल्की होकर रह जाएगी।

सोशल मीडिया से नहीं जुड़ी हूं

मन्नू भंडारी (कथाकार)

'चेहरे' शब्द से असहमत हूं। हां! सोशल मीडिया के कई-कई चेहरे हो सकते हैं। हमारे साहित्य की दुनिया तो काल विभाजन की जटिल प्रक्रियाओं का नाम है जिसे इस माध्यम के लेखक ठीक-ठीक बयान कर सकेंगे। अपने समय की जटिलता को बयां करने के लिए सबका एक वक्त आता है। सोशल माध्यमों के किसी स्वरूप से नहीं जुड़ी हूं। कुछ जानती हूं सिर्फ सुनी-सुनाई है अनुभवजनित कुछ भी नहीं है।



एक साहित्यकार का कालजयी होना और एक रचना का कालजयी होना दो अलग प्रवृत्ति है। दोनों ही इस क्षेत्र की ख्याति का हिस्सा हैं। किसी भी रचनाकार या रचना का कालजयी होना मतलब नए साहित्यिक उपागम का संयोजन है। हर नई चीज़ आकर्षित करती है। टिकती वह है जिसमें लंबे समय तक टिके रहने के हज़ारों गुण मौजूद हों। यह सब कुछ सदियों में कभी-कभी ही घटित होता है। अक्सर तो समय-समय की चर्चा से दुनिया ही भरी पड़ी है।

जब हम दिल्ली में नहीं थे, साहित्य के तब भी बेहद करीब थे। नई-नई चीज़ें पढ़ने, खोजने और गढ़ने की ललक थी। ज़रिया ख़त, अख़बार, पत्रिका और रेडियो ही एकमात्र साधन था। मेरी पहली रचना के छपने की भी एक कहानी रही है। हर कार्य के पीछे एक मिथक, गल्प, कथानक अनायास ही चलती रहती है। उन कदमों की आहट को हमें सुनने की जरूरत है। हम कभी आलस नहीं करते थे, चाहे जितनी लंबी यात्रा करनी होती थी। दिमाग़ में ऊर्जा प्रस्फुटित होती थी जिसके जोश में काम अपने अंजाम तक पहुंचता ही था। उससे अपार संतोष भी हासिल होता था। हमें अपने प्रत्येक सगे-संबंधी, परिचित के पता ज़बानी याद रहता था। आज की अधिकतर पीढ़ी ख़ुद के बारे में भी ठीक से नहीं जानती है। किसी अपनों के बारे में पूछना एक ऐसी हेरारकी से गुज़रना है जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। सोशल मीडिया में साहित्य यह सवाल अपने-आप में अलग ध्वनि बोध कराता है जिसे मैं छह रूप में देखती हूं। साहित्यकार की उम्र, उसका विषय क्षेत्र, भाषा पर पकड़, विषय निरूपण की क्षमता और वक्त के साथ मशाल लेकर चलने की सोच। मैं सीधे तौर पर नहीं जुड़ी हूं इसलिए इसके किसी पहलू पर तीखी टिप्पणी सर्वथा उचित न होगा बावजूद यह कह सकती हूं कि इस माध्यम से साहित्य का भला कितना हुआ है, यह एक शोध का विषय है क्योंकि साहित्य का नाम तात्कालिक नहीं है बल्कि युगों-युगों तक पढ़े जाने और अमल किए जाने का नाम है। सोशल माध्यम के प्लेटफार्म में स्थायित्व के लिए कोई स्थान नहीं है जितना मुझे समझ आता है। 'का मांगू कुछ थिर न रहाई' की उक्ति कही जा सकती है लेकिन यथार्थ और अध्याम में व्यापक भेद है। मेरी कुछ परिचित दोस्त, स्नेहीजन इसकी काफ़ी चर्चा करती हैं। उनके मुख से सुनती हूं। जिससे यही समझ पाती हूं कि यह मंच एक सुलभ संस्था के तौर पर काम कर रहा है जिससे कम समय में अधिक लोगों तक पहुंचने का मंतव्य जान पड़ता है। यह सोच किसी भी समय के लिए शुभ संकेत नहीं कहा जा सकता है। साहित्य की एक सुगढ़ परंपरा रही है। वह खंडित होती जा रही है। आज खूब रचा जा रहा है। पढ़ा भी जा रहा है लेकिन छाप छोड़ने में कितना सक्षम है, यह बिंदु विचारणीय है।

हमें आज भी याद है कि किसी भी रचना को लिखने के बाद बार-बार सस्वर वाचन करते थे। कई-कई बार प्रूफ़ को पढ़ते थे। किसी अख़बार या पत्रिका की ज़ीनत बनने के साथ ही पाठकीय प्रतिक्रिया पर ध्यान केंद्रित रहता था। मन में एक भय सा भी बना रहता था कि जाने संपादक की कलम किस पात्र, किस वातावरण या किस कथानक पर चलेगी ? यह डर कभी

गया ही नहीं। इतना कुछ लिखने के बाद ऊम्र के इस पड़ाव पर पहुंचने के बाद भी। महीनों-महीनों प्रतीक्षा के बाद जवाब न मिलने की स्थिति में नए कलेवर का प्लाट गुनने की कोशिश में जुट जाते थे। सच तो यह है कि प्रतीक्षा के अतिरिक्त आज की तरह हमारे पास दूसरा कोई विकल्प भी नहीं होता था कि फटाफट हाथ की उंगुलियों को घुमाया और सारे पुर्जे हाथ लग गए।

सोशल मीडिया नए दौर का माध्यम भर

कृष्णा सोबती (कथाकार)

हिंदी साहित्य केवल चेहरा नहीं है बल्कि देश, दुनिया, समाज, व्यवस्था, व्यक्ति, मज़दूर, मजबूर, दिव्यांग सहित चर-चराचर के एक-एक चेहरे की झुर्रियों को पढ़ने, रचने, व्यक्त करने, व्यंजित करने का नाम है। साहित्य सदैव अपने मुखड़े से अंतरे और आखिर तक बांधकर रखने का नाम है। समाज की धाराएं जैसे-जैसे बदली हैं ठीक वैसे-वैसे ही साहित्य ने अपने कहने के अंदाज़ को बदला है मगर चेहरे के उस ठोसपन को बरकरार रखा है। जहां तक सोशल मीडिया का सवाल है यह नए दौर का एक माध्यम भर है। तकनीक पर आधारित चीज़ तकनीक जैसी ही हो सकती है। एक क्षण को चमत्कृत करेगी, दूसरे ही पल ग़ायब होती जान पड़ेगी। ग़ायब होने, बनने के मध्य में साहित्य ही स्थाई है। इस स्थिरता के लिए काग़ज़-कलम का संयोग बहुत जरूरी है। सोशल होकर लिखने वाले भी छपने के लिए छटपटाते हैं। छपने के बाद ही उनकी साहित्यिक शृंखला संभव है।



साहित्य में हलचल युगों से बनी रही है। मेरे ख्याल से साहित्य का कोई भी ऐसा दौर नहीं रहा है जब साहित्यिक सुगबुगाहट ने एक हलचल न पैदा की हो? कभी किसी तरह का विवाद तो कभी अल्ट्रा-माडर्न लिटरेचर का प्रवेश तो कभी देश से बाहर जाकर लिखने या लौटने के बाद लिखने की बात ही क्यों न रही हो? निर्मल वर्मा से लेकर बहुतेरे नाम गिनाए जा सकते हैं। रस्किन बांड आज भी लिख रहे हैं। स्नोवा बार्नो आज भी रहस्य में रहकर लिख रही हैं। पढ़ी जा रही हैं। पाठक पसंद कर रहे हैं। मुझे नहीं लगता कि साहित्य में जगह बनाने के लिए किसी ख़ास मंच का हिस्सा हो जाना जरूरी है। कलम में नएपन की खुश्बू ही सबसे जरूरी चीज़ है। शोर से साहित्य का रिश्ता है भी और नहीं भी है। साहित्य ने सदैव समय के नब्ज़ को टटोला है। उसी के अनुरूप अपने को रखा है। यह रखने वाले के ऊपर निर्भर करता है कि वह उसे किस तरह से देखता है।

किसी रचना के कालजयी बने रहने की एक ही वजह हो सकती है वह है रचना में ठहराव और किस्सागोई। बाकी फलक चाहे जितना भी फैला लिया जाए। उसकी परिधि उसके पाठक ही होते हैं। युगों पहले जब मशीन का आविष्कार नहीं हुआ था तब भी साहित्य था। माध्यम मुखमुद्रा थी। समय के साथ इसका स्थान रेखाचित्रों ने ली, उसके बाद काग़ज़ ने, आज सोशल माध्यम ने लेने की कोशिश की है लेकिन उस कोशिश को तब झटका लग जाता है जब रचना के छपने और पाठक के हाथ में पहुंचने की बात आती है। साहित्य मेरे जीवन का आधार है। यह न होता तो मेरी अपनी कोई पहचान ही न होती। मेरी रचना ही मेरे लोगों के बीच की कड़ी है।

सोशल मीडिया में स्थायित्व नहीं है

कुंवर नारायण (कवि)



साहित्य चेहरे का नाम नहीं है बल्कि सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक, भौगोलिक चेहरे को नया आयाम देने का नाम है। सोशल मीडिया की चर्चा से खूब अवगत हूं। रचनाओं के संदर्भ में सुना हूं लेकिन पढ़ा नहीं है। इस माध्यम के हलचल से साहित्य में होने वाली परिचर्चा का सीधा संबंध है या नहीं, यह देखने की जरूरत है। शोर के पीछे का सच जाने बग़ैर शोर को शोर कह देना भी एक नए शोर को पैदा करना है। किसी रचना के कालजयी बने रहने के लिए सबसे आवश्यक है लेखक की ईमानदार बुनावट। उस सृजनात्मक पहलू से ही उसके कालजयी बने रहने का प्रमाण मिलता है।

मेरी पहचान मेरी लेखनी और कलम से निकले सृजन से है। किसी माध्यम की भूमिका को स्वीकारना मुश्किल है। हां, पाठक पहली सीढ़ी है जिसने हमें एक मुकाम हासिल करने में भूमिका निभाई है। सोशल माध्यम में स्थायित्व नहीं है। कब, क्या, कैसे खो जाए, कह नहीं सकते। आप कहेंगे कि यह तो काग़ज़ पर भी लागू होता है लेकिन यह भी सच है कि सोशल मीडिया को किसी प्रमाण के तौर पर कहीं पेश नहीं कर सकते हैं लेकिन छपे को कभी भी, कहीं भी, किसी भी तरह से पेश कर सकते हैं।

सोशल मीडिया बहुत फैला है लेकिन ...

नासिरा शर्मा (कथाकार)

साहित्य में चेहरा नहीं उसकी अभिव्यक्ति बोलती है। अभिव्यक्ति के केंद्र में विधा है। विधा के चेहरे अनेकानेक हैं। उनके मध्य ही सब कुछ सन्निहित है। सोशल मीडिया की दुनिया भले ही बहुत फैली है लेकिन उस फैलाव से साहित्य के ठहराव का विशेष लेना-देना लगता नहीं है। बग़ैर हलचल के भी कोई साहित्य है? शायद नहीं, जब हलचल होगी तभी उसकी सार्थकता सामने प्रकट हो पाएगी।



शोर से साहित्य का संबंध न के बराबर है। कभी-कभार यह सुनाई पड़ता है। हां! साहित्यकार चाहें तो समाज में हो रहे अन्याय, अत्याचार पर एकजुट होकर शोर का समूह खड़ा कर सकते हैं। उस समूह बने दौर से कोई भी लड़ नहीं सकता है क्योंकि समूह में इतनी ताकत होती है कि वह किसी को भी डंप कर सकते हैं।

रचना और रचनाकार दोनों की कालजयिता एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। कलमकार जितना ज्यादा समय देगा उतना ही अधिक निखरा, निथरा साहित्य पाठक को सौंप पाएगा। पाठक उतने ही आनंदातिरेक से भाव-विभोर होगा। बार-बार पढ़ेगा, चर्चा करेगा। जितनी ज्यादा चर्चा होगी उतनी ही अधिक ख्याति मिलेगी। यह ख्याति ही कालजयी बनाएगी। साहित्य मेरी पहचान का आधार है। मेरे न होने के बाद भी मेरी रचना के बरअक्स मैं रहूंगी। ❑

दो कविताएं : **राजेश झरपुरे**



वे बुरे लोग नहीं

सब बुरे लोग
इतने बुरे नहीं थे
जितने अच्छे लोग अच्छे

कि बेवजह उलझ पड़े
छोटी-छोटी बातों में
और लड़ मरे आपस में
वे जानते थे
वे अच्छे लोग नहीं हैं
इसीलिए कभी नहीं करते
अच्छे लोगों जैसा सलूक।

दरअसल उनके बुरे होने की
पहली और अनिवार्य जरूरत
ही बुराई है
इसे वे भली-भांति जानते थे
और आपसी विवाद भी
आपस में सुलझा लेते
नहीं होते ख़फ़ा एक-दूसरे से
अच्छे लोगों की तरह।

अमूमन तो कभी होते नहीं
उनके बीच
अच्छे लोगों की तरह झगड़े-फ़साद
और हुए भी तो
वे दौड़ पड़ते
सब बुरे में
सर्वश्रेष्ठ बुरे की तरफ़।

वह सुलझा देता पेचीदे मसले
विवाद परस्पर सुलह में बदल जाते
कटुता, मित्रता में
रिश्तों की तिड़कन और टूटन
एकजुटता में पुनः बदल जाती।

दरअसल बुरे लोग
बुरे कम और बेवकूफ़ ज्यादा थे।

वे नहीं जानते थे
उनके बीच छुपकर बैठा है
एक अच्छा आदमी
जो उन सब बुरों से
बहुत अलग है
और अपनी कुटिलताओं को
लाजवाब तरीके से
अपने भीतर छुपा रखा है।

उसका दुखी होना

जो उसका नहीं था
उसके खोने के विचार से
उदास था वह

जो उसने पाया नहीं
उसके गुम जाने का ख़्याल कर
दुखी था वह

इस तरह भी
बेमतलब उदास और दुखी
होते हैं आदमी
यह मैंने
स्वयं के अंदर उतरकर जाना।

संपर्क : नई पहाड़े कॉलोनी, जवाहर नगर, गुलाबरा, छिंदवाड़ा, जिला-छिंदवाड़ा-480001 (मध्य प्रदेश)

गीत : **सुभाष वसिष्ठ**



नदी ने बुरा माना

फिर हुई उद्दाम लहरें
फिर नदी ने बुरा माना
गुम हुए अस्तित्व तट के
ढूंढते कोई ठिकाना
हुईं शाखें छिन्न-भिन्न
पत्र थर-थर कांपते से
वृक्ष डटने के प्रयासी
समय के पल भांपते से
एक हलचल का उदय है
ताल लय का बिगड़ जाना
जल थपेड़ों पर हवा है
या हवा पर जल थपेड़े
फेन की विक्षिप्त रचना
रुद्र ध्वनि के विकट बेड़े
कण उठे हर बार गिरने
प्रकृति का ताना न बाना
शिला-खंडों का उछलना
टूटकर आकाश में है
जल सतह पर धम्म गिरना
दृश्य आंखों से परे है
तीव्र गति की धार पर, सच,
कब हुआ है पार पाना?
जलाप्लावित पूर्ण घाटी
डरी सहमी यों प्रवाहित
चाबुकी दंडाधिकारी
करे निर्मम ज्यों प्रताड़ित
शून्य की नियमावली को
जानकर भी नहीं जाना !
फिर हुई उद्दाम लहरें
फिर नदी ने बुरा माना।

संपर्क : सी-29, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-110059

लोकवृत्त का भावबोध और हिंदी सिनेमा

आलोक रंजन पांडेय



परंपरागत भारतीय कला विधाएं प्रत्येक युग में अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम रही हैं। इन पारंपरिक कला विधाओं में निरंतर नए-नए प्रयोग होते रहे हैं और उनमें परिमार्जन भी होता रहा है। कुछ विधाएं कला और तकनीक के साथ संयुक्त होकर विकसित होती हैं, ऐसी ही एक कला विधा जो सर्वाधिक प्रचलित है, वह है 'सिनेमा या फिल्म'। फिल्म में कथा, पटकथा, संगीत, हास्य, गीत और अभिनय के साथ-साथ अन्यान्य ललित कलाओं का भी योगदान रहता है। 'फिल्म' शब्द को जब हम ध्यान से सुनते हैं तो इसमें तीन शब्द ध्वनित होता है, 'फ़िल' (fill), 'फ़ील' (feel) और 'इल्म'। यहां 'फ़िल' का अर्थ भरना, 'फ़ील' का अर्थ 'अनुभव करना' या 'महसूस करना' और 'इल्म' का अर्थ 'नए-नए तरीकों से' लिया जा सकता है। इस तरह 'फिल्म' शब्द का अर्थ 'नए-नए तरीकों से दर्शक के हृदय में उठ रही कमियों को भरना और उन्हें उस परिवेश तक लेकर जाना है जहां उनसे उनका तादात्म्य स्थापित हो सके'। चूंकि परिवेश का संबंध समाज और संस्कृति से होता है और किसी न किसी रूप में फिल्म में इसी समाज और संस्कृति का चित्रण मिलता है तो फिल्म का रिश्ता समाज और संस्कृति से काफ़ी करीब का बन जाता है। फिल्म में वही प्रतिबिंबित होता है जो समाज में घटता है या घट रहा होता है। शायद इसी कारण फिल्म को 'समाज का दर्पण' कहा गया है। समाज के निर्माण और विकास में 'लोकवृत्त' का विशेष योगदान होता है। हिंदी की अधिकतर फिल्मों में 'लोकवृत्त' का यथार्थ रूप देखने को मिल जाता है। हिंदी सिनेमा में इसके विवेचन से पहले 'लोकवृत्त' शब्द को समझना आवश्यक है।



'लोकवृत्त' एक जीवंत शास्त्र है जो लोक को उसकी संस्कृति के भूले-बिसरे रास्तों की याद दिलाता है। इसका विस्तार लोकजीवन के प्रत्येक पक्ष को लेकर चलता है। लोकवृत्त में प्रयुक्त 'लोक' शब्द भारतीय शास्त्र का एक पुराना शब्द है जिसका प्रयोग जन सामान्य के संदर्भ में परंपरा से होता चला आ रहा है। 'लोक' शब्द के अर्थ में मानव समाज का वह वर्ग आता है जो शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना से अलग एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। इस परंपरा को जनमानस मौखिक रूप से ग्रहण करता है और आगे की पीढ़ी को सौंप देता है। यह रीति-रिवाजों, संस्कारों, कहावतों, गाथाओं, नाटिकाओं के माध्यम से लोक जीवन में प्रचारित होता है। किसी भी क्षेत्र की संस्कृति इसी लोक से जन्म लेती है और आगे बढ़ती है। संस्कारों से बंधा हुआ समाज ही लोक है और उनके द्वारा निर्मित कला ही लोक-कला है। यह लोक-कला ही पूरे समाज को एक धागे में पिरोने का काम करती है। इस संदर्भ में पुरुषोत्तम लाल मेनारिया ने लिखा है कि 'लोक-कला जनता की होती है और उसमें सरलता, उन्मुक्तता,स्वच्छंदता, हार्दिकता, स्वाभाविकता और आडंबरहीनता होती है।' इस तरह लोक हमारे जीवन का वह महासमुद्र है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी तत्व संचित रहते हैं।

'लोकवृत्त' शब्द अंग्रेज़ी के फोकलोर (Folklore) का पर्यायवाची है जिसका शाब्दिक अर्थ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान' है। डब्लू.जे. थामस ने 1846 ई. में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया जिसमें उन्होंने निम्नवर्ग में सर्व-सामान्य जनता की संस्कृति, परंपरागत विश्वास, किंवदंतियां, आचार-विचार, गीत, कथाएं, कहावतें, नृत्यादि को लक्ष्य किया था। इस तरह 'लोकवृत्त' लोक मात्र का विषय है जिसका जन्म किसी समय विशेष में न होकर सर्वकालीन और सर्वदेशीय होता है। यह केवल प्राचीन और रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत ना कर जीवित लोक-भावों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवाहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है। लोकवृत्त की अभिव्यक्ति हिंदी सिनेमा में प्रारंभ से ही देखने को मिलती है चाहे वह पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' हो या पहली सवाक फिल्म 'आलम आरा' या पिछले साल प्रदर्शित हुई 'पीके'। जहां 'राजा हरिश्चंद्र' में मिथ के माध्यम से सामाजिक संस्कृति को चित्रित किया गया है वहीं 'आलम आरा' में इतिहास और कल्पना के सामंजस्य से राज परिवार में हो रहे ईर्ष्या और प्रेम को उकेरा गया है तो 'पीके' के माध्यम से समाज में बढ़ते अंधविश्वास और रूढ़िगत परंपराओं पर प्रहार करने की कोशिश की गई है।

19वीं सदी के अंत में हमारे देश में अनेक परिवर्तनों के साथ कई राजनैतिक और सामाजिक सुधार भी हुए। इसी आधुनिकता के साथ-साथ

एक अति महत्वपूर्ण परिवर्तन मनोरंजन के क्षेत्र में भी हुआ। 7 जुलाई 1896 ई. को जब ल्यूमियरे भाइयों की सिनेमैटोग्राफी ने पहली बार छह मूक लघु फिल्मों का प्रदर्शन बंबई के वाटसन होटल में किया तो किसी ने सोचा भी नहीं था कि यह प्रदर्शन भारतीय मनोरंजन में एक मील का पत्थर साबित होगा, जिसको देखकर कई और पत्थर तैयार हो जाएंगे। इसी के पश्चात भारत में पहली बार किसी भारतीय (हरिश्चंद्र भटवाडेकर) ने सेल्यूलाइड कैमरे का प्रयोग कर दो लघु फिल्मों को शूट कर उन्हें प्रदर्शित किया। इसी से भारत में चलती-फिरती फिल्मों की शुरुआत हुई। भारत में सिनेमा की शुरुआत 1913 ई. में धूंडीराज गोविंद फाल्के की फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' से हुई। यह प्रथम भारतीय फिल्म ध्वनि रहित थी और इसी फिल्म के निर्माण स्वरूप दादा साहब फाल्के को भारतीय सिनेमा का पितामह स्वीकार किया गया। इस फिल्म के अतिरिक्त दादा साहब फाल्के ने 'भस्मासूर मोहिनी',





'सत्यवान सावित्री' और 'लंकादहन' जैसी धार्मिक परंपरा से सजी समाज को प्रभावित करने वाली फिल्मों का निर्माण किया जिसमें धार्मिक वर्णन का मिथ मिलता है। इसके बाद कई फिल्म कंपनियां बनीं और मूक फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। सिनेमा के क्षेत्र में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण बदलाव तब आया जब भारत में बोलती हुई फिल्में बननी शुरू हुईं। इस बदलाव को फिल्म कंपनियों ने हाथों-हाथ लिया और शीघ्र ही इन फिल्मों ने मूक फिल्मों का स्थान ले लिया। भारत में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनी, जिसके निर्माता इंपीरियल फिल्म कंपनी और निर्देशक अर्दरशीर इरानी थे। यह फिल्म 14 मार्च 1931 को बंबई के मैजेस्टिक सिनेमा में रिलीज़ हुई। इस बोलती फिल्म ने सिनेमा के पूरे तौर-तरीकों में क्रांतिकारी बदलाव ला दिया। बोलती फिल्मों के क्रेज के कारण ही 1935 ई. के बाद मूक फिल्मों का बनना भारत में लगभग खत्म सा हो गया। यहां यह ध्यान देने की बात है जब तक मूक फिल्में बन रही थी तो उसका मुख्य विषय धर्म था लेकिन जैसे ही सवाक् फिल्में बननी शुरू हुईं उसका केंद्रीय विषय धर्म से हटकर इतिहास और सामाजिक यथार्थ होने लगा।

भारतीय सिनेमा की कोई भी कहानी क्यों न हो उसमें समाज, संस्कृति और मानवता का वास्तविक स्वरूप अवश्य दिखाया जाता है। चाहे वह कितनी भी काल्पनिक क्यों न लगे किंतु उसकी पृष्ठभूमि समाज पर ही आधारित होती है। समाज में होने वाले समस्त घटनाक्रमों, मानवीय आकांक्षाओं, सामाजिक कुरीतियों, विषमताओं, धार्मिक आडंबरों, राष्ट्रीय भावना, राजनीति, परिवार, लोक-चित्रण, स्त्री-पुरुष संबंध आदि सभी सिनेमा के द्वारा यथार्थ रूप में प्रदर्शित किए जाते रहे हैं। इसलिए जब भी सिनेमा के संदर्भ में चर्चा होती है तब तत्कालिक सामाजिक परिवेश एवं मानसिकता के यथार्थ स्वरूप को विशेष रूप से ध्यान देना होता है। भारतीय समाज में अनेक प्रकार की विविधताएं एवं विषमताएं रही हैं जो भाषिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय आदि अनेक स्तर पर हैं। फिल्में मूल रूप से पारिवारिक संदर्भों को लेकर बनाई जाती थीं जिसमें संयुक्त परिवार के टूटने-जुड़ने, संपत्ति के लिए लड़ाई, गांव की डकैती संबंधी समस्या, आर्थिक विषमता, विपन्नता आदि मूलभूत समस्याओं को दिखाया जाता था। स्त्री को परिवार की आधारशिला के रूप में दिखाया जाता था तथा स्त्रियों का विद्रोह, उनकी शिक्षा से बनी स्वच्छंद मानसिकता को संयुक्त परिवार के विखंडन के रूप में रखा जाता था। 'भाभी', 'ख़ानदान', 'तीन बहुरानियां' आदि इसी परंपरा की फिल्में थीं, समाज की विभिन्न कुरीतियों को लेकर भी अनेक फिल्में बनीं। विधवा-विवाह, दलित समस्या, महिला-शिक्षा आदि गंभीर विषयों पर भी फिल्में बनती रही हैं। 'प्रेम-रोग', 'स्वदेश' ऐसी ही फिल्में रही हैं जिसने अपनी कहानी द्वारा भारतीय समाज की मानसिक रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयास किया। इसके पश्चात् गांव के किसानों, दलितों, दलित-स्त्रियों आदि के जीवन को केंद्र में रखकर, उनकी समस्याओं के आधार पर अनेक फिल्मों का निर्माण हुआ। 'बैंडिट क्वीन', 'समर', 'मृत्युदंड', 'गॉड मदर' आदि कुछ इसी प्रकार की फिल्में रही हैं। वैसे तो लोकरीति और लोकसंस्कृति का भावबोध अधिकतर फिल्मों में किसी न किसी रूप में मिल ही जाता है।

हिंदी सिनेमा अपने आरंभिक काल से जनमानस में लोकप्रिय कला-विधाओं से अनुप्राणित होता रहा है। इस क्रम में उसने न केवल लोक-कथाओं, लोक-गीतों, लोक-संगीत अपितु लोक में प्रचलित विविध परंपराओं, त्योहारों, आचार-विचार, गोदना, मेहंदी, रंगोली, चौक पूरना आदि विविध लोक-संस्कृतियों एवं लोक-कलाओं को किसी न किसी रूप में अपनाया है। मूल रूप से हिंदी लोक-जीवन से जुड़ी पहली फिल्म 1936 ई. में प्रदर्शित 'अछूत कन्या' है जिसके निर्देशक फ्रेंक ऑस्टीन और निर्माता हिमांशु राय थे। इस फिल्म में कस्तूरी (देवकी रानी) जो कि एक दलित रेलवे चौकीदार की पुत्री है, का प्रेम एक ब्राह्मण पुत्र प्रताप (अशोक कुमार) से दिखाया गया है। इस फिल्म को यदि आज के संदर्भ में देखा जाए तो हरियाणा में प्रचलित 'ऑनर किलिंग' का रूप देखा जा सकता है। ऐसी फिल्मों में उपर्युक्त नाम के अलावा 'प्यासा', 'मदर इंडिया', 'गोदान', 'धर्मपुत्र', 'तीसरी कसम', 'ग़बन', 'सारा आकाश', 'धरती के लाल', 'उपकार', 'भुवनशोम', 'उसकी रोटी', 'चरणदास चोर', 'मौसम', 'रजनीगंधा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पंचवटी', 'नदिया के पार', 'मुगले-ए-आजम', 'उमराव जान', 'बिराज बहू', 'सौतेला भाई', 'साहब बीवी और गुलाम', 'उपहार, मेरे अपने', 'परिचय', 'चितचोर', 'देवदास', 'चोखेरबाली', 'गीत गाता चल', 'स्वामी', 'हजार चौरासी की

मां', 'दो रास्ते', निशांत', 'भूमिका', 'आक्रोश', 'उत्सव', 'सरस्वती चंद्र', 'पिंजर', 'गर्म हवा', 'मिर्च मसाला', 'मृगया', 'दीक्षा', 'रूदाली', 'बवंडर', 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे', 'दामूल', 'मटरू की बिजली का मन डोला', 'हीर रांझा', 'पीके', 'नया दौर', 'लैला मजनूं', 'मिशन कश्मीर', 'हिना', 'गंगाजल' आदि का नाम लिया जा सकता है जिसमें भारतीय लोक संस्कृति की सोंधी खुशबू दिखाई देती है।

1953 में प्रदर्शित विमल राय की फिल्म ' दो बीघा ज़मीन' में कृषक जीवन की कारुणिक गाथा का वर्णन है। 1956 ई. में प्रदर्शित 'ढोला मारू' फिल्म में राजस्थान में प्रचलित नरवर के युवराज ढोला और पुगल की राजकुमारी मारू के प्रेम का लोकरूप में चित्रण है। 'जागते रहो' (1956) में राजकपूर ने शहर में रह रहे लोगों की संवेदनहीनता का चित्रण किया है लेकिन इसमें लोक का यथार्थ वर्णन मिलता है। 'मदर इंडिया' 1957 में प्रदर्शित महबूब



खान की एक महत्वाकांक्षी फिल्म थी जिसमें उन्होंने ग्रामीण लोक संस्कृति का चित्रण यथार्थ रूप में किया है। इस फिल्म में पति के एक दुर्घटना में अपने हाथ गंवा देने के बाद घर छोड़कर चले जाने के बाद एक भारतीय पत्नी का अपने तीन बच्चों के पालन-पोषण हेतु किए गए संघर्ष का मार्मिक अंकन है, इस संघर्ष में उसे अपने सबसे छोटे बेटे को खोना पड़ता है लेकिन वह अपनी जिजीविषा के बल पर शेष दोनों बेटों को बड़ा करती है। इसके लिए वह बैल की जगह खुद हल में जुतती है और बंजर ज़मीन पर फ़सल उगाने के लिए जीतोड़ मेहनत करती है। गांव के साहूकार सुखीलाला (कन्हैयालाल) की कुदृष्टि से स्वयं को बचाते हुए वह अपने परिवार एवं भारतीय मूल्यों की किस प्रकार से रक्षा करती है, उसकी यथार्थपरक एवं कारुणिक गाथा यह फिल्म उकेरती प्रतीत होती है। इस फिल्म का एक महत्वपूर्ण मोड़ उस समय आता है, जब गांव में भीषण बाढ़ और तूफ़ान आता है और जिससे सारे मकान नष्ट हो जाते हैं तथा गांव की सारी फ़सल नष्ट हो जाती है। उस समय ग्रामवासी गांव छोड़कर अन्यत्र जाने का फ़ैसला करते हैं लेकिन नायिका राधा के समझाने पर वह गांव में ही रुककर इस समस्या का सामना करने हेतु तैयार होते हैं।

प्रेमचंद 'गोदान' में गोबर के गांव से पलायन कर शहर जाने से उसके जीवन में शहरी समस्याओं का जो अंकन करते हैं, उससे बचते हुए निर्देशक यहां पटकथा में नायिका के समझाने मात्र से ग्रामवासियों के गांव में ही रुक जाने की कथा कहकर एक सकारात्मक संदेश देता है और अंत में गांव की मां अर्थात् नायिका द्वारा गांव में सिंचाई हेतु नहर का उद्घाटन करते हुए फिल्म अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है। यह फिल्म किसानों की दुर्दशा का भी एक जीवंत दस्तावेज़ है।

1957 ई. में ही प्रदर्शित 'नया दौर' सामाजिक सरोकारों से संबंध रखनेवाली एक ऐसी फिल्म है जिसमें शक्तिचालित मशीनों के आ जाने से मानव तथा पशुचालित परंपरागत यंत्रों के अस्तित्व पर होनेवाले संकट को दर्शाया गया है। आदर्शवाद आज भी भारतीय लोक-संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा बना हुआ है तभी तो इसमें घोड़ागाड़ी के सामने मोटरगाड़ी को पीछे छूटते हुए दिखाया गया है। इस फिल्म के माध्यम से यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि लोक-संस्कृति के बिना किसी भी संवेदनशील समाज की परिकल्पना संभव नहीं है, इसमें जो घोड़ागाड़ी का चित्रण है वह मूलत: ग्रामीण संस्कृति का प्रतीक है जिसमें एकता और भाईचारा प्रमुख है तभी तो सभी ग्रामवासी मिलकर घोड़ागाड़ी के लिए सेतु और रास्ता तैयार कर देते हैं जिससे सामंतवादिता की प्रतीक मोटरगाड़ी की हार हो जाती है। प्रसिद्ध



आंचलिक कहानीकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' को आधार बानाकर महान गीतकार शैलेंद्र ने 1966 ई. में कालजयी फिल्म 'तीसरी कसम' का निर्माण किया जिसके निर्देशक बासु भट्टाचार्या थे। आंचलिक पृष्ठभूमि पर निर्मित इस फिल्म में बिहार के पूर्णिया जिले के लोक सांस्कृतिक पक्ष को सुंदरता से उकेरा गया है जिसमें ग्रामीण अंचल की लोक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में गाड़ीवान हीरामन (राजकपूर) एवं नौटंकी में काम करनेवाली हीराबाई (वहीदा रहमान) की अव्यक्त प्रेमकथा लोक संस्कृति के माध्यम से दिखाई देती है। इस फिल्म में नायक हीरामन तीन कसमें खाता है और वही तीन कसम इस फिल्म का मूल है। पहली कसम वह बांस नहीं लादने की, दूसरी कसम चोरी का माल नहीं ढोने की तथा तीसरी कसम नौटंकी वाली बाई को अपनी बैलगाड़ी में नहीं चढ़ाने के रूप में लेता है। इस फिल्म में ग्रामीण पृष्ठभूमि के वातावरण की मार्मिकता का चित्रण अत्यंत सजगता से मिलता है तभी तो हीरामन और हीराबाई में 'हीरा' समान होने के कारण हीरामन हीराबाई को मीत बना लेता है, मीत बनाने की यह प्रक्रिया आज भी गांवों में मिल जाती है।

पंजाबी की प्रसिद्ध लोककथा 'हीर-रांझा' को आधार बनाकर चेतन आनंद ने इसी नाम से 1970 ई. में फिल्म बनाई जिसमें उन्होंने लोकमानस में व्याप्त अमर प्रेमकथा को संपूर्ण रोचकता एवं भाव-प्रवणता के साथ सिनेमाई पर्दे पर उकेरा। इस फिल्म की शुरुआत कथा परिचय के साथ होती है, तत्पश्चात रांझा (राजकुमार) बांसुरी की सुरीली धुन बजाते हुए प्रकट होता है जिस पर तख़्तहजारे की युवतियां मोहित हैं। इन्हीं युवतियों में से एक को रांझा छेड़ता है जिसकी शिकायत वह युवती उसकी भाभी से करती

है। रांझा के आने पर भाभी उसे डांटते हुए सियाल के हीर (प्रिया राजवंश) से ब्याह करने का ताना देती है। संयोग से रांझा उसी शाम अपने मित्र की शादी में सियाल जाता है जहां उसका परिचय हीर से होता है, दोनों एक-दूसरे पर आकर्षित हो जाते हैं। रांझा वहां से लौटने के बाद भी हीर की याद में खोया रहता है और अपने-आप से कहता है, "मिलके तन्हाई का अहसास उसने दूना कर दिया, दिल किया आबाद कुछ ऐसे कि सूना कर दिया।" फिल्म की कहानी आगे बढ़ती है और हीर अपने पिता को रांझा से शादी के लिए मना लेती है लेकिन जब रांझा के भाई विवाह का प्रस्ताव लेकर जा रहे होते हैं तो रास्ते में ही कैदो उन्हें पिटवाकर वापस भेज देता है। जब रांझा के यहां से प्रस्ताव नहीं आता है तो वह हीर की शादी का रिश्ता सैंदे से कर देते हैं। हीर इसका विरोध करती है लेकिन उसकी कोई नहीं सुनता। इस फिल्म में हीर का चरित्र लोककथा के हीर के चरित्र जैसा ही है तभी तो वह काज़ी को देखते हुए कहती है, "ढोंग शादी का तुमने रचाया जरूर, न किया है न करूंगी ये रिश्ता कुबूल।" नहीं कुबूल करने की बात को अंत तक निभाती है और अंत में दोनों एक-दूसरे के लिए जान दे देते हैं। 1976 में ऐसी ही एक लोककथा को आधार बनाकर एच.एच.रावल ने 'लैला मजनू' बनाई जिसमें नौटंकी और पारसी थिएटर की प्रचलित शैली का प्रयोग करते हुए पंजाब की लोक-संस्कृति का चित्रण किया गया है। प्राय: लोक में प्रचलित लैला मजनू की कथा में नायक एवं नायिका अपने प्रेम के लिए समाज द्वारा बनाए गए नियमों एवं परंपराओं को चुनौती देते हैं और विशेषकर नायिका द्वारा यह चुनौती और मुखर होती है, ऐसी ही मुखरता 'परिचय' फिल्म में भी दिखती है तभी तो लैला का निकाह अपने मनपसंद प्रेमी से न होने पर कहती है कि "मैं कैस के अलावा किसी और की बनी तो ज़िंदगी दोज़ख़ हो जाएगी।"



राजश्री प्रोडक्शन के बैनर तले 1982 ई. में प्रदर्शित फिल्म 'नदिया के पार' में पूर्वांचल के एक पारंपरिक परिवार की कहानी का चित्रण है। इस फिल्म में चंदन और गुंजा की प्रेम कहानी के साथ-साथ पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक-परंपराओं एवं संस्कारों का यथार्थ चित्रण किया गया है जिसकी झलक फिल्म की शुरुआत में ही दिख जाती है। फिल्म में नामावलियों के साथ गांव के लहलहाते हुए खेत, मिट्टी के बने साफ़-सुथरे घर, हल एवं बैलों के साथ खेतों की ओर जाते किसान एवं मवेशी सबकुछ दिखाई देता है। सुबह की लालिमा, छोटे से पुल पर जाती हुई बैलगाड़ी तथा नदी में बैलगाड़ी से विपरीत दिशा में जाती हुई नाव दिखाई देती है जिसके माध्यम से फिल्मकार विपरीत दिशा में बसे लोगों के मध्य संवाद स्थापित कर एक नई लोक-संस्कृति की सूचना देना चाहता है। फिल्म में चित्रित गांव में लोक-संस्कृति के उज्ज्वल भाव को प्रमुखता से दर्शाया गया है।

1985 ई. में प्रदर्शित केतन मेहता द्वारा निर्देशित फिल्म 'मिर्च मसाला' एक ऐसी फिल्म है जिसके कथानक में एक साथ मानवीय कमज़ोरी, नैतिक द्वंद्व, मज़बूत इरादों को लोक संस्कृति के साथ बुना गया है। इसमें गुजरात के एक गांव में रहनेवाली एक स्त्री सोनबाई की कहानी है जो मूलत; बांझ है और उसका पति शहर कमाने गया है। जब सुबेदार की नज़र सोनबाई पर पड़ती है तो उसे वह अपने जाल में फंसाना चाहता है लेकिन बदले में उसे सोनबाई से ज़लालत और थप्पड़ मिलता है। इससे नाराज़ होकर सूबेदार गांववाले को धमकी देता है कि या तो गांववाले सोनबाई को उसके हवाले कर दें या गांव की बर्बादी के लिए तैयार रहें। गांव का मुखिया सोनबाई को सूबेदार के हाथों में सौंपने को निर्णय लेता है लेकिन इस निर्णय के ख़िलाफ़ कारख़ाने में काम करनेवाली औरतें एकजुट होकर इस संकट से लड़ती हैं और सूबेदार की आंखों में पिसी हुई मिर्ची डालकर उसे सज़ा देती हैं। इस फिल्म में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि जब तक औरतें संगठित होकर आवाज़ नहीं उठाएंगी तब तक उन्हें इसी तरह पुरुषवादी समाज का शिकार होना पड़ेगा। शायद इसी कारण जब कारख़ाने में काम करनेवाली औरतें सूबेदार के ख़िलाफ़ खड़े होने का निर्णय लेती हैं तो वे ना तो सरकार की ओर देखती हैं और ना ही किसी अन्य पुरुष से सहायता लेती हैं अपितु अपने संकट का समाधान अपने घर में रखे हुए मिर्च-मसाले में ढूंढती हैं जिसका प्रयोग वे प्रतिदिन अपने खाने का स्वाद बढ़ाने के लिए करती हैं। इस तरह इस फिल्म में न केवल लोक संस्कृति के माध्यम से समाज में चल रही सामंतवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह करती हैं बल्कि साथ-साथ अपनी एकता को भी दिखाती हैं।

इस कड़ी में पंजाब की संस्कृति को बताने वाली फिल्म 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' का नाम भी प्रमुखता से लिया जा सकता है जिसका प्रदर्शन 1995 ई. में हुआ था। इस फिल्म के निर्देशक आदित्य चोपड़ा ने

कथा तो राज और सिमरन की ली है लेकिन मूल रूप से इस फिल्म में उन्होंने पंजाब की लोक-संस्कृति को दिखाया है। यदि यह फिल्म इतनी लोकप्रिय हुई तो उसके मूल में पंजाब की मिट्टी की सोंधी खुशबू थी । पीली सरसों सिल्वर स्क्रीन पर प्रेम के इज़हार का सूचक बन गई। इस फिल्म के द्वारा न केवल भारत के अपितु संपूर्ण विश्व के लोगों ने पंजाब में होनेवाली शादी की रस्मों और उसकी संस्कृति को देखा। इस तरह यह फिल्म भी लोक-परंपरा को आगे बढ़ाती है। इसी तरह 1999 ई. में प्रदर्शित 'शूल' में बिहार के चंपारण जिले की लोक संस्कृति की झलक दिखती है तो 'लगान' (2001) में क्रिकेट के माध्यम से ग्रामीणों और अंग्रेज़ों के बीच का संघर्ष दिखाई देता है। इस संघर्ष में ग्रामीण लोकवृत्त का चित्रण भी हुआ है।

राजस्थान की लोकसंस्कृति और वहां की भंवरी देवी घटना पर आधारित फिल्म 'बवंडर' (2000) के निर्देशक जगमोहन मूंदड़ा हैं। इस फिल्म में एक ग्रामीण सीधी-सादी कार्यकर्ता का जुझारू स्वरूप, बाल-विवाह प्रथा, यौन शोषण और प्रताड़ना, सामाजिक बहिष्कार, सामूहिक बलात्कार, जातिप्रथा की कुरीतियां, महिला कार्यकर्ताओं का सहयोग, कानूनी दांव-पेंच, भ्रष्ट पुलिस व्यवस्था, सवर्ण वोट बैंक, राजनेताओं का हस्तक्षेप, भंवरी देवी के पक्ष और विपक्ष में उठनेवाले नारे और अंततः सच्चाई को पीछे छोड़कर सेशन कोर्ट का ऐतिहासिक फ़ैसला और बलात्कारियों की ज़मानत पर रिहाई का चित्रण है। इसी तरह 'गंगाजल', 'अपहरण', 'राजनीति', 'तनु वेड्स मनु', 'पीके', 'तनु वेड्स मनु रिटर्न्स' और 'प्रेम रतन धन पायो' में भारतीय लोक संस्कृति का वर्णन देखने को मिल जाता है।

हिंदी फिल्म-संगीत देश को सही मायने में एकसूत्र में बांधने का कार्य करता है। किसी भी लोकभाषा के गीत-संगीत को जब फिल्मों में चित्रित किया जाता है तो उसे चाहनेवाले दूसरी भाषा के लोग भी हो जाते हैं। 1931 ई. में प्रदर्शित 'आलम आरा' के साथ ही हिंदी सिनेमा में एक नए युग की शुरुआत होती है। यह पहली सवाक् फिल्म थी जिसमें दर्शकों ने संवाद के साथ-साथ गाने भी सुने। कुल सात गानोंवाली इस फिल्म में सर्वाधिक प्रसिद्धि नज़ीर मोहम्मद के स्वर में गाई हुई गीत 'दे दे खुदा के नाम पर बंदे ताकत हो गर देने की, कुछ चाहे अगर मांग ले मुझसे हिम्मत हो गर लेने की' को मिली। इस गाने के पश्चात तो फिल्मों में अन्य गानों के साथ-साथ लोकधुनों पर बने गानों का महत्व भी बढ़ने लगा। लोकवृत्त से संबंधित गानों का महत्व इसलिए भी बढ़ा कि इसमें सच्चाई होती है, पीड़ा होती है, उल्लास होता है और यह हमारी संस्कृति की जड़ों से भी जुड़ी होती है। यही दर्द और उल्लास 'मदर इंडिया' के गीतों 'दुख भरे दिन बीते रे भैया, सुख के दिन आयो रे', 'पिय के घर आज प्यारी दुल्हनियां चली', 'घूंघट नहीं खोलूंगी सईयां तेरे आगे आज मैं', में लोकधुनों का ऐसा सामंजस्य मिलता है जो आज भी सर चढ़कर बोलता है। इसी तरह 'मधुमति' (1960) के गीत 'चढ़ गयो पापी बिछुआ' में उत्तरप्रदेश, बिहार एवं ओड़िसा के लोक-गीतों तथा असम के लोक-नृत्य 'बिहू' का सुंदर मिश्रण दिखाई देता है। 'मुग़ले आज़म' के गीत 'प्यार किया तो डरना क्या, प्यार किया कोई चोरी नहीं की', 'मोहे पनघट पे नंदलाल मिली गयो रे' जैसे गीतों पर भी लोक-संस्कृति, लोक गीत और शास्त्रीय संगीत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। नितिन बोस द्वारा निर्देशित 'गंगा जमुना' (1961)के गीतों पर अवधी, ब्रज और भोजपुरी बोलियों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इस फिल्म के गीत 'दो हंसों का जोड़ा बिछड़ गया रे', 'नैन लड़ जईहे तो मनवा में कसक होइबे करी', से यह प्रमाणित हो जाती है। इसी तरह की छाप साहब बीवी और गुलाम के गीत 'पिया ऐसे जिया में समय गयो रे' और 'न जाओ सइयां छुड़ा के बइयां, कसम तुम्हारी मैं रो पड़ूंगी,' में देखा जा सकता है।

प्रेमचंद की कालजयी कृति 'गोदान' पर इसी नाम से 1963 में बनी फिल्म के गीत 'होरी खेलत नंदलाल बिरज में होली खेलत नंदलाल', 'पिपरा के पतवा सरिस डोले मोरा मनवा', में भी लोक संस्कृति की रवानगी देखी जा सकती है। मराठी लावणी पर आधारित 'मेरा साया'(1966) का गीत 'झुमका गिरा रे बरेली के बाज़ार में झुमका गिरा रे' इतना लोकप्रिय हुआ कि जो महिला पहले झुमका नहीं पहनती थी वह भी झुमका खरीदकर पहनने लगी। 'तीसरी कसम' के गीत 'चलत मुसाफिर मोह लिया रे पिंजड़े वाली मुनिया', 'पान खाय सईयां हमार हो मखमल की कुर्ती लाल लाल हो', 'सजनवा बैरी हो गए हमार' जैसे गीत बिहार की लोक संस्कृति और भोजपुरी लोक-छटा को दर्शाने का कार्य करती है। 'हीर-रांझा' और 'लैला मजनू' के गीतों में पंजाब की मस्ती दिखाई देती है तो 'बॉबी' (1973) के 'न मांगू सोना चांदी, न मांगू हीरा मोती', 'झूठ बोले कौआ काटे काले कौवे से डरियो' जैसे गीतों में गोवा के मछुआरों की बिंदास जिंदगी का रूप दिखाई देता है। 'नदिया के पार' (1982) के सभी गीतों 'सांची कहे तोरे आवन से हमरे अंगना में आईल बहार भौजी', 'जब तक पूरे न हो फेरे सात तब तक दुल्हिन नहीं दुल्हा की', कौन दिशा में ले के चल रे बटोहिया जरा ठहर-ठहर ये सुहानी सी डगर' में अवधी और भोजपुरी के लोक-गीतों का पुट दिखाई देता है। 'सोहनी महिवाल' के गीतों 'बोल दो मीठे बोल सोणिए', 'रब तुम्हें माफ़ करे मेरा इंसाफ़ करे' को जब हम सुनते हैं तो पंजाब की मिट्टी की सोंधी खुशबू खुद-ब-खुद आ जाती है। 'मैंने प्यार किया' के गीत 'कहे तोसे सजना तोहरी सजनियां' में पूर्वांचल के लोक-गीत की छाप दिखती है तो 'चांदनी' (1989) की गीतों 'मैं ससुराल नहीं जाऊंगी डोली रख दो कहारो', 'लगी आज सावन की सुनहरी घटा है' में भी लोक संस्कृति की झलक दिखाई देती है। 'हिना', 'फिज़ा' और 'मिशन कश्मीर' के गीतों में कश्मीर की लोक धुन सुनाई देती है। 'शूल' के गीत 'दिलवालो के दिल का करार लूटने आई हूं यूपी बिहार लूटने' 'बंटी और बबली' का 'कजरारे कजरारे तोरे कारे कारे नैना' पर जहां पूर्वांचल के लोक-गीत का प्रभाव दिखता है तो 'देहली 6' के गीत 'ससुराल गेंदा फूल' और 'मसकली मसकली' पर छत्तीसगढ़ी लोक गीत का प्रभाव है। इसी तरह 'पीपली लाईव' के गीत 'सखि सईयां तो खूब ही कमात है महंगाई डायन खायो जात है', 'दबंग' के गीत 'मुन्नी बदनाम हुई', 'ओमकारा' के गीत 'बीड़ी जलाइले', 'दबंग-2' के गीत 'फेविकौल से' और 'थानेदार' के गीत 'चोली के पीछे क्या है' और हाल ही में प्रदर्शित 'प्रेम रतन धन पायो' के गीत 'सईयां तू कमाल का और तेरी बातें भी कमाल की' पर भी लोक धुन की छाप दिखाई देती है।

हिंदी सिनेमा ने जहां लोक-संस्कृति को बढ़ाने में अपना योगदान दिया है ठीक उसी तरह लोक-परंपरा, लोक-कला और लोक संस्कृति ने हिंदी सिनेमा के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज सिनेमा का प्रभाव ही है कि किसी ख़ास जगह के लोक-त्योहार और उत्सव भारत के हर हिस्से में मनाया जा रहा है। आज लोक संस्कृति को ध्यान में रखकर सिनेमा के पटकथा-लेखक पटकथा लिख रहे हैं तो यह भारतीय लोक-परंपरा के लिए सुखद अनुभूति है। यह कहना तनिक भी अतिश्योक्ति न होगी कि हिंदी सिनेमा और लोकवृत्त एक-दूसरे के पूरक हैं। ❑

संपर्क : डब्ल्यू ज़ेड, 250 बी, इंद्रपुरी, नई दिल्ली-110012

सोशल मीडिया और हिंदी साहित्य



प्रस्तुत परिचर्चा का उद्देश्य संप्रेषण के माध्यम-विस्तार के मध्य उसमें निहित संभावनाओं, आशंकाओं और ख़तरों को जानना है। यहां हमने भिन्न स्थानों, व्यापारों और विधाओं में सक्रिय व्यक्तित्व को एक स्पेस में लाने की कोशिश की है। यह तथ्य अब नया नहीं है कि सोशल मीडिया की पैदाइश और विकास की वजह से हिंदी भाषा और साहित्य ने एक बेबाकी और बेफ़िक्री अर्जित की है। यह जल्दबाज़ी में है लेकिन इसलिए क्योंकि यह समय से पहुंचना चाहता है। यह मुग़ालतों में नहीं, ज़मीनी असर और वास्तविकताओं में है ताकि उस यथार्थ को व्यक्त कर सके जिसकी तकलीफ़ें केवल स्मृतियों में ही नहीं वर्तमान तक फैली हुई हैं- इस आशंका के साथ कि भविष्य से कोई उम्मीद न रखी जाए। इसमें छद्म प्रतिबद्धता, उपलब्ध विमर्शों के प्रति मोह और चालू फ़ार्मूलेबाज़ी नहीं है। हिंदी साहित्य में यह क्षण अब तक प्रचलित विमर्शों और आलोचना-समीक्षा पद्धतियों के अलोकप्रिय और अविश्वसनीय होने का क्षण है। समीकरणों से संचालित इन पद्धतियों की जाली गंभीरता के स्रोत अब बरामद हो चुके हैं और अब ये संदिग्ध नहीं, हास्यास्पद हैं। ये प्रायः देर से पहुंचती हैं और दूरगामी नहीं होने की वजह से एक निरर्थक किस्म का अवसाद और नैराश्य उपजाती हैं। इस दृश्य में शीघ्रातिशीघ्र संभावनाओं को ज़ाहिर कर देना चाहिए, इससे प्रक्रिया उत्साहित और विकास बेहतर होता है। यहां वरिष्ठ कवि असद ज़ैदी की एक काव्य-पंक्ति मौके का उद्धरण होगी कि 'आलोचना ठहरकर इंतज़ार नहीं किया करती।' सोशल मीडिया भी यही करता है, वह ठहरकर इंतज़ार नहीं करता है। इस परिचर्चा के माध्यम से नई बन रही हिंदी और उसके बदलावों को समझा जा सकता है। हिंदी आज जितने फैलाव में है, पहले कभी नहीं रही। एक बेहतर बात यह है कि पहले यह जितनी मोहताज थी, अब उतनी नहीं रही। इसमें तमाम युवतम नाम हैं जो हिंदी की भाषिक-परंपरा को उसका वह विस्तार सौंपने के लिए प्रतिबद्ध हैं जिसकी वह पात्र है ... **अविनाश मिश्र**

विपक्ष की भूमिका निभाता है सोशल मीडिया

मधु कांकरिया (साहित्यकार)



जब लगभग सारे चैनल और अख़बार किसी ख़ास राजनैतिक दल के इशारे पर ख़बरों को तोड़-मरोड़ रहे हों या ख़बरों को दिखाने की बजाय छिपा ज्यादा रहे हों तो सोशल मीडिया ही एकमात्र साधन होता है सच्चाई जानने का। अब यदि सोशल मीडिया नहीं होता तो जेएनयू की सच्चाई, रोहित वेमुला की पूरी सच्चाई क्या हमारे सामने आ पाती? छत्तीसगढ़ में जो हो रहा है, उसकी प्रामाणिक जानकारी हमें क्या अख़बार से मिलती है? या टी.वी. से मिलती है? इसकी अधिकांश प्रामाणिक जानकारी, सोनी सोरी का सच, आदिवासियों से उनकी ज़मीन छीनने में लगी सरकार और उसकी पुलिस का सच... मुझे हिमांशु कुमार की वाल से मिलता है। कई बार विपक्ष की भूमिका निभाता है यह सोशल मीडिया।

कई बार बहुत अच्छे-अच्छे आलेख भी पढ़ने को मिल जाते हैं। हां, खुंदक भी होती है कई बार जब लोग इसे आत्मप्रचार का ज़रिया बना लेते हैं। पगलाई-बौराई हवा की तरह अपना सब कुछ बिछा देते हैं। यह पुरस्कार, यह समीक्षा, यह आलेख ... यहां छपा, वहां छपा... उस लेखक ने मेरे बारे में यह लिखा, वह लिखा, प्रमाण भी दे देते हैं। फ़लां मुझ पर शोध कर रहा है इसके भी प्रमाण। अपनी गरिमा से गिरते लेखकों को देख विरक्ति होने लगती है। जनाब, अपनी कीर्ति को सुगंध की तरह फैलने दें। डमरू की तरह बजा-बजाकर बेसुरे नहीं बनिए। एक समय था जब लेखक अपनी कृतियों पर अपना नाम तक नहीं देते थे, ऐसी विरासत मिली है हमें। मैंने तो नियम बना लिया है कि जो लेखक अपना आत्मप्रचार करें उन्हें मुझे पढ़ना ही नहीं है।

इसकी एक उम्र है, इसका एक उपयोग

सैन्नी अशेष (साहित्यकार और पत्रकार)

'हंस' में 'किताबों से मुक्ति' शीर्षक से मेरा लेख आया था। उसका संदेश यह था कि किताबों के नाम पर कूड़े के अंबार लगे हुए हैं। उन पर नया कूड़ा चिना जा रहा है और उसमें वास्तविक किताबें तलाश कर लेना दुष्कर है और श्रेष्ठ साहित्य को चेतना और काग़ज़ पर ही सही रूप में सामने लाया जा सकता है। तो भी, किताब को ज़िंदा और विकसित रखना है तो आज की तारीख़ में उसे इंटरनेट ही बचाएगा। उस पर मैं जितना महत्वपूर्ण लिखूंगा, उतना ही वह काग़ज़ पर जाकर ही महत्वपूर्ण बनेगा। प्रेमचंद, अज्ञेय और निर्मल वर्मा से लेकर किसी भी अच्छे कथाकार की कहानी सोशल मीडिया पर नहीं, काग़ज़ पर ही अपने सही पाठक पाएगी।



जनवरी में मैंने एक उपन्यास शुरू किया और साथ ही फेसबुक पर उसका प्रचार शुरू कर दिया। लोग प्रकाशक को अग्रिम पैसे भेजने लगे। तीन महीने लिखने में लगे, तीन सप्ताह बिकने में। मूल्य पांच सौ रुपए रखा। एक भी व्यक्ति ने मूल्य कम करने को नहीं कहा। वजह थी सही चीज़ को सही हाथों में पहुंचाने का सही उपाय।

भोजपत्र हो, काग़ज़ हो, इंटरनेट हो, सबकी अपनी उम्र और उपयोग है। हिंदी साहित्य में अगर सचमुच कुछ बेहतरीन है तो वह पहले सोशल मीडिया से, फिर काग़ज़ से आगे बढ़ेगा। इंटरनेट कुदरत से बहुत दूर है, किसी अंतरिक्षीय घटना से नष्ट या विचलित होगा ही लेकिन हमारे विवेक

और चेतना के नज़दीक जो चीज़ अधिक कुदरती है, वह काग़ज़ है। कुदरत को लाचार किया गया तो शिलालेखन ही बचेगा।

सिरखपाई भी बहुत है

ओम थानवी (वरिष्ठ पत्रकार और 'जनसत्ता' के पूर्व संपादक)

अच्छी ही बात है कि पाये के ज्यादातर हिंदी साहित्यकार सोशल मीडिया से कटे हुए हैं। जुड़े भी हैं तो नाम भर को। दरअसल, सोशल मीडिया निजी भड़ास की अभिव्यक्ति का एक माध्यम भर है। भड़ास में बड़बोलापन



होता है : गाली, निंदा, आत्मश्लाघा और दुष्प्रचार जबकि साहित्य एकांत में सिरजे और एकांत में पढ़े जाने की चीज़ है। कह सकते हैं कि साहित्यकार अपने एकांत सृजन को सोशल मीडिया पर प्रसारित कर हट सकता है लेकिन व्यवहार में ऐसा संभव नहीं हो पाता। नए माध्यम का प्रसार चूंकि अपेक्षया अपार और स्वछंद है, पात्र-कुपात्र सब एक प्रकाशन-प्रसारण (पोस्ट, स्टेटस कुछ भी नाम दें) पर अपनी राय दे सकते हैं, देते हैं। या तो साहित्यकार मुट्ठी-भर मित्रों-प्रशंसकों का घेरा बनाकर उसमें विचरण करे। मगर सोशल मीडिया पर सचमुच 'सोशल' हुआ तो भीड़ों में उलझ जाएगा। या तो देर-सवेर भाग खड़ा होगा या कीमत चुकाकर माध्यम को अपने यश के लिए इस्तेमाल करने लगेगा।

सोशल मीडिया में अनियंत्रित (और अक्सर अमर्यादित) शिरकत ऐसे वाद-विवाद को जन्म देती है, जो कहीं नहीं ले जाता। संवाद की संभावनाएं सिमट जाती हैं; प्रलाप, सिर-फुटव्वल, छींटाकशी, मान-मर्दन, षड्यंत्र जगह लेने लगते हैं। लोगों की रुचि भी ऐसी चीज़ों में ज्यादा होती है। नतीजतन सोशल मीडिया में दाख़िल लेखक भाग खड़ा होता है। जैसाकि अर्थशास्त्र में कहते हैं, बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है। यही हश्र साहित्यकार का सोशल मीडिया पर होता है। एक सृजनात्मक व्यक्ति के पास समय कहां होगा अपने सृजन के साथ किसी नए नरक में बसने के लिए? साहित्य के प्रसार के लिए और संगठन या लोग, माध्यम पर सक्रिय हो सकते हैं। इससे पाठक के साथ प्रकारांतर लेखक का भी भला होगा, उसकी पहुंच बढ़ेगी लेकिन हर लेखक क्या पाठकों की बहुतायत से खुश होता है? शायद अच्छे लेखक को अच्छे पाठक चाहिए, पाठकों की भीड़ नहीं?

हां, सारा सोशल मीडिया नरक हो, ऐसा भी नहीं है। वहां अच्छे लोग, अच्छे पाठक भी मिलते हैं। बेहतर बहसें होती हैं, ताज़ादम जानकारियां मिल सकती हैं। मैंने खुद इसे चार बरस नज़दीक से देखा है। हालांकि मैं साहित्यकार नहीं हूं पर जितनी रुचि है उसे देखते हुए साहित्य, भाषा, कला, सिनेमा, संगीत, पुरातत्त्व, भ्रमण, छायाकारी से लेकर पहनावे और रसोई तक पर मैंने फेसबुक पर भड़ासगीरी की है, जिरह की है। समाज, राजनीति और सांप्रदायिकता के मुद्दों पर भी बुरी तरह उलझा हूं। गाली-गुफ़्ता से भी निपटता रहा पर अंततः स्वेच्छा से, ठंडे दिमाग़ से अलग हो गया। सोचकर कि इतना समय कहीं और लगाऊं तो शायद कुछ सार्थक काम हो जाए। किसी ने कहा कि ट्वीटर बेहतर माध्यम है, एक-आध पंक्ति लिख छोड़कर अपना काम करते रह सकते हैं। उसे भी आज़मा देखा। ऐसा नहीं है। वहां भी सिरखपाई है। अगर मेरा अनुभव ऐसा है, तो एकांतप्रिय, सृजनधर्मी रचनाकार का क्या हाल होगा, आप अंदाज़ा लगा सकते हैं।

वेब पत्रिकाओं का कोई आर्थिक आधार नहीं

अरुण देव (कवि और वेब पत्रिका 'समालोचन' के संपादक)

पांच साल पहले जब 'समालोचन' वेब पत्रिका की शुरुआत हुई तो उसने अपने इरादे जल्दी ही ज़ाहिर कर दिए कि वह गंभीर और स्तरीय साहित्य का एक वैकल्पिक अड्डा बनना चाहती है। यह वह समय था जब फेसबुक पर बहुतायत से शौकिया कविताओं की आमद शुरू हुई थी और तमाम ब्लॉग उससे पटे रहते थे। सामग्री की विश्वसनीयता, उसका स्तर और बेहतर प्रस्तुति के साथ-साथ अधिकतर लोगों तक अपनी पहुंच बनाने के लिए समालोचन ने परिश्रम किया। रचनाकारों और पाठकों का यह विश्वास हासिल करना कि वह गुटों और 'उठाने', 'गिराने' के 'पापाचार' से मुक्त एक आत्मीय जगह उसकी बड़ी सफलता है। शायद वह हिंदी ही नहीं भारतीय भाषाओं की पहली ऐसी 'ई-पत्रिका' है जिसमें नियमित तीन-तीन स्तंभ प्रकाशित होते हैं। औसतन हर दूसरे दिन वह अपडेट होता है। 'समालोचन' पर प्रकाशित रचनाओं को प्रिंट माध्यम ससम्मान साभार प्रकाशित करता रहता है।



हिंदी में मुद्रित साहित्य की पहुंच दूर तक नहीं है जबकि आज जिसके पास भी कंप्यूटर और मोबाइल है 'डिजिटल' साहित्य को देख-पढ़ सकता है। यह इसकी ताकत है जिसका सकर्मक उपयोग हिंदी साहित्य को करना चाहिए। सहजता और किफ़ायत से इस माध्यम में किसी भी 'पत्रिका' का प्रकाशन संभव किया जा सकता है पर यह आसानी ही इसकी दुश्वारी बन जाती है। व्यक्तिगत ब्लॉगों और अनियमित, संदेहास्पद नेट-पत्रिकाओं के जंगल में ठीक-ठीकाने की किसी पत्रिका को पाना दुरूह है और ऐसी किसी नियमित पत्रिका को चलाना भी सतत परिश्रम का कार्य है। इसके माडरेटर/संपादक को 'वन मैन आर्मी' की तरह काम करना होता है। वह सब कुछ है- संपादक, प्रूफ रीडर, पेज डिज़ाइनर, यहां तक कि डाकिया भी। उसे अपनी यात्राओं में कंप्यूटर और भरपूर नेट पैक लेकर चलना पड़ता है।

वेब पत्रिकाओं का कोई आर्थिक आधार नहीं है। पढ़ना मुफ़्त है। संपादक अपने बलबूते इसे निकालता है। ऐसे में रचनाकारों को कुछ न दे पाने की असमर्थता खलती है। साहित्य की संस्थाओं के सहयोग से रचनाकारों की मदद की जा सकती है। हिंदी में कविता, कहानी, आलोचना आदि पर तमाम पुरस्कार हैं पर आश्चर्य है संपादन पर कोई प्रोत्साहन नहीं है।

दृश्य को थिरने में समय लगेगा

आशुतोष दुबे (युवा कवि)

सोशल मीडिया नवोदितों आदि के लिए मनमांगी मुराद है। 'लाइक' इनका टॉनिक है। बधाई भरी टिप्पणियां खुराक़ हैं। मुग़ालतों की इस वर्चुअल नर्सरी में ये अभिभूत से विचरते हैं। कई खर्च-कारतूसों का ये कम-बैक मंच है। बड़े लेखक यहां नहीं हैं। कुछ हैं भी तो इस अदा से कि जैसे नहीं हैं। चिलमन से लगे बैठे हैं। सूंघ लेते हैं, देख लेते हैं, फिर ओझल हो जाते हैं।



कुछ वीर बालक यहां अपना एक सुपर क्रांतिकारी परसोना बनाते हैं और उसकी लगातार, अक्सर कामयाब मार्केटिंग करते रहते हैं। कुछ उदयाकांक्षी यहां लगातार गुलाटियां खाने के करतब तब तक करते हैं जब तक उन्हें लगभग उदित मान नहीं लिया जाता। इसके लिए वे किसी की भी टोपी झपट कर भाग जाने, चिकोटी काट लेने, जबरन उलझने, थेथरई बरतने आदि करतबों को अंजाम देते हैं।

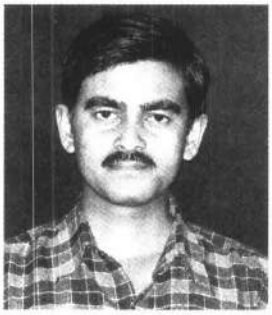
कुछ लोग अपनी गैंग-सी बना लेते हैं। एक-दूसरे को प्रमोट करना, एक-दूसरे की पोस्ट शेअर करना, उस पर आह और वाह करना आदि-आदि के माध्यम से माहौल सरगर्म रखते हैं।

नए मीडिया ने साहित्यकार को अपनी 'पब्लिक' गढ़ने की सुविधा दी है। तुरंत प्रतिसाद ने, चाहे वह गंभीर हो या चालू, नए रचनाकार के हौसले बुलंद किए हैं। प्रकाशन के स्तर पर स्थापना और पहचान का जो संघर्ष अभी-अभी तक बरसों चलता था, वह कल्पनातीत ढंग से सिमट गया है। चीज़ें यहां एक लगातार 'मेल्टिंग पॉट' में हैं। आत्मप्रचार की घनी धुंध है, उड़ती हुई धूल है, गुस्ताख़ियां हैं, हिमाकतें हैं, बेमुरव्वत और बेलिहाज़ हमले हैं। पुरानी प्रतिष्ठाओं के लिए आत्मरक्षा एक जानलेवा कसरत है। एक घनघोर 'तत्काल' है जिसमें किसी भी तरह प्रसिद्ध हो जाने से परे की कोई जुस्तजू नज़र नहीं आती। इस दृश्य को थिरने में समय लगेगा। मगर इस काले बादल की रजत-रेखा यह भी कि इस तमाम भेड़ियाधसान के बावजूद अच्छी रचना अब भी चमकती है और अच्छे लेखक को वह स्नेह और सम्मान अब भी मिल रहा है जो उसका सहज प्राप्य है।

यहां कोई संपादन नहीं है

शशिभूषण द्विवेदी (कथाकार और पत्रकार)

एक ज़माना था जब हिंदी के तमाम साहित्यकार यह कहने में गर्व महसूस करते थे कि उन्हें कंप्यूटर और ई-मेल खोलना नहीं आता और वे अब भी हाथ से ही लिखते हैं। कंप्यूटर के विरोध में तब तमाम कविताएं भी लिखी गईं। वीरेन डंगवाल ने अपनी ऐसी ही एक कविता पर बाद में अफ़सोस ज़ाहिर किया। ख़ैर, हिंदी में यह कंप्यूटर और इंटरनेट विरोध लंबे समय तक चला लेकिन वक्त किसी के लिए नहीं रुकता। लघु पत्रिकाएं अपनी श्रेष्ठता



के अहंकार में ऊभ-चूभ होती रहीं और अचानक इंटरनेट और सोशल मीडिया का दायरा इतना फैल गया कि यह सारा विरोध ही बेमानी हो गया। मुझे याद है 'हंस' के दफ़्तर में 2007 तक कंप्यूटर आ गया था लेकिन वहां ई-मेल देखने की व्यवस्था नहीं थी, ऐसा ही अन्य पत्रिकाओं का हाल था। ज्यादा समय नहीं बीता है, आज किसी भी पत्रिका के दफ़्तर में 90 प्रतिशत रचनाएं ई-मेल से आती हैं। मेरी जानकारी में हिंदी में कंप्यूटर पर पहली कहानी शायद उदय प्रकाश ने लिखी थी, तब उनका ख़ासा मज़ाक बना था। सोशल मीडिया के बारे में भी शुरू में हिंदी लेखकों का रवैया यही था। यहां लिखने वालों को वे हिकारत से देखते थे। धीरे-धीरे इस माध्यम की ताकत का उन्हें अहसास हुआ और आज हिंदी के तमाम बड़े लेखक फेसबुक और ट्वीटर पर मिल जाएंगे। शुरुआत में इन लोगों ने इसे सिर्फ अपनी पुस्तकों के प्रचार का माध्यम बनाया और लगभग हास्यास्पद होते गए। आज तमाम कवि-कहानीकार अपनी रचनाएं लेकर इन आभासी माध्यमों पर आ रहे हैं। ऐसे तमाम क्षेत्र जो लघु पत्रिकाओं की पहुंच से दूर थे, इस माध्यम से साहित्य के पास आए हैं। यह नए तरह के प्रतिरोध का माध्यम भी बना है, तमाम साहित्यिक बहसें यहां हुईं और दूर-दराज़ के पाठकों की सीधी प्रतिक्रिया भी मिली। आज कई लेखकों ने अपने ब्लॉग और नेट पत्रिकाएं शुरू की हैं और नई प्रतिभाएं इनसे लगातार जुड़ रही हैं। कई बड़े कवि अपनी कविताएं, दोहे, शायरी यहां पोस्ट करते हैं और हज़ारों लोग दिनभर में उन्हें पढ़ जाते हैं। यह ठीक है यहां कोई संपादन नहीं है और कूड़ा-कचरा भी बहुत है, फिर भी कई प्रतिभाशाली रचनाकार इसी माध्यम के ज़रिए सामने आए हैं। अब तो तमाम पत्रिकाएं भी यहां छपी रचनाओं को अपने यहां छापने लगी हैं।

अब भी एक संभावना है

शिरीष कुमार मौर्य (कवि और वेब पत्रिका 'अनुनाद' के संपादक)

2005 में कालेज विज्ञान प्राध्यापकों को कंप्यूटर दिए गए थे। मैं हिंदी का मास्टर था। प्राचार्य का तर्क था कि कंप्यूटर विज्ञान से जुड़ी चीज़ है। फिर मेरे आत्मीय मित्र गणित के प्राध्यापक ने उस कंप्यूटर पर सालीटियर खेलते हुए मुझे आमंत्रित किया कि मैं माउस हाथ में लूं, तभी अचानक प्राचार्य वहां आ पहुंचे और मुझसे कहा, अगर कंप्यूटर में कुछ ख़राबी आई



तो आपसे रिकवरी की जाएगी। इस अपमान ने पीसी ख़रीदने का विचार मन में डाला और तीन किस्तों में वह ख़रीदा भी। इंटरनेट लिया और ईमेल बनाया, यह सोशल मीडिया से पहला परिचय था। बहुत सुस्त नेटस्पीड के साथ भी वह एक जादू-सा था। दो साल बाद 'अनुनाद' नाम से एक ब्लॉग बनाया, यहां से सोशल मीडिया पर रहने का वह सफ़र शुरू हुआ, जो बहुत दूर नहीं बस फेसबुक पर रहने तक पहुंचा है।

ब्लॉग के दिन अब लद गए, ऐसा लगता है। कुछ साल पहले 'अनुनाद' पर लंबी बहसें चलती थीं। पंकज चतुर्वेदी, गिरिराज किराडू, रंगनाथ सिंह, धीरेश सैनी, व्योमेश शुक्ल, आशुतोष कुमार, भारतभूषण तिवारी जैसे मित्र लंबे कमेंट लिखते थे और एक ही पोस्ट पर कई दिन तक बहस छिड़ी रहती थी। पंकज चतुर्वेदी के एक लंबे लेख को 'अनुनाद' पर लगाना इस मायने में जैसे हासिल था। गिरिराज के ब्लॉग पर मोनिका कुमार की कविता पर चली बहस को तो गिरिराज ने 'अनुनाद' की एक पोस्ट में बदल डाला था, जिस पर फिर एक बहस का सिलसिला शुरू हुआ था। गिरिराज ने अनुनाद एक स्तंभ अपनी पसंद की कविताओं पर आलोचना का शुरू किया था, वे मेरे सबसे शानदार दिन थे ब्लॉगिंग के लेकिन अब कुछ औपचारिकताएं भर बची हैं। अनुराग वत्स के ब्लॉग सबद पर भी मैं कभी लेखन तो कभी कमेंट्स के ज़रिए हस्तक्षेप करता था। ये बहसों के दिन थे, उन्माद के नहीं। इनमें विचार की एक ज़मीन थी, कुछ रचनात्मक विक्षोभ भी थे। 2005 के बाद से 2014 तक ब्लॉग्स ने हिंदी साहित्य को एक नए पाठक वर्ग तक पहुंचाया,

उसे नया आकाश दिया। आज के कई तेजस्वी युवा प्रिंट में छपने से पहले इन्हीं ब्लॉग्स पर छपे और पर्याप्त पहचाने गए।

फिर फेसबुक शुरू हुआ। मेरे लिए पहले वह 'अनुनाद' की पोस्ट्स को नए मंच पर लाने जैसा ही कुछ था। धीरे-धीरे मैं उन बहसों में पड़ा, जो लगता था कि साहित्य की वैचारिकी को आधार बना रही हैं। मुझे कुछ नए कवि यहां मिले और 'अनुनाद' पर मैंने उन्हें 'फेसबुक विशेष' नामक स्तंभ में छापा। यह भी एक सुख था जो ज्यादा दिन टिक नहीं सका। मेरे देखते-देखते फेसबुक पर गुट बने और बहस के नाम पर तरह-तरह की हिंसाएं सामने आईं। नए माध्यम को समझ न पाने और कुछ अपने अधकचरेपन के चलते ऐसी एकाध बहस का मैं भी हिस्सा रहा। मेरी प्रोफ़ाइल पर विभागीय हस्तक्षेप के कुछ अजीब मामलों से गुज़रते हुए मुझे दूसरी प्रोफ़ाइल बनानी पड़ी। यहां रहते हुए जाना कि ये कोरी बहसें हैं, इनका होना हममें कुछ भी रचनात्मक बदलाव नहीं लाता। इन सब बातों के बावजूद अब भी देखता हूं कि कई पाठक हैं, जो हिंदी कविता की मूल ऊर्जा से जुड़े हैं, साहित्य के समर्थ सामाजिक रूप में उनकी आस्था है- वे जो कुछ भी साझा करते हैं, उसमें हिंदी साहित्य का अतीत भर नहीं, कुछ भविष्य भी है। उन्हीं के लिए मैं अपने नाम में ब्लॉग का नाम जोड़कर नई प्रोफ़ाइल के साथ फेसबुक पर हूं और रहूंगा।

वाद-विवाद-संवाद और सूचना की जगह

सुदीप्ति (समीक्षक और अध्यापिका)

जैसे-जैसे सोशल मीडिया का चलन व्यापक हुआ हिंदी साहित्य में रुचि रखने वाले पाठक और लेखक भी यहां सक्रिय होते गए। आज तो वे सब लोग यहां मौजूद हैं जो आरंभ में इसकी आलोचना करते नहीं थकते थे। यह सोशल मीडिया की ताकत भी है और समाज में बर्ताव का बदलता अंदाज़ भी कि धीरे-धीरे सब इसके भीतर आते जा रहे हैं। हम सोशल मीडिया पर कई तरह की बातें करते हैं लेकिन यहां एक अन्य पक्ष विचारणीय है हिंदी साहित्य। हिंदी साहित्य के लोग ज्यादातर फेसबुक पर ही सक्रिय हैं। ट्वीटर का समाज अलग है और दूसरी साइट्स अन्य कला माध्यमों को ज्यादा महत्व देने वाली हैं। फेसबुक लंबे पोस्ट्स, कविताओं और अन्य चर्चाओं के लिए उपर्युक्त है। ऐसे में हिंदी साहित्य का सोशल मीडिया तो यही लगता है।



ज़ाहिर-सी बात है इसके भी दो पहलू हैं- एक तो नया क्या हो रहा है, कौन-सी किताबें आ रही हैं, इसका पता आसानी से चल जाता है। नए-नए लेखक भी उभर आते हैं, उनकी किताबों का प्रचार-प्रसार भी यहां हो जाता है और संभावित पाठक भी मिल जाते हैं। प्री-बुक के चलन में सोशल मीडिया की भूमिका ग़ज़ब की है। हम जैसे पाठकों को पता रहता है कि यह व्यक्ति फेसबुक में इस प्रकार लिख रहा है तो उसकी किताब हमारे काम की है या नहीं? लेखक और प्रकाशक भी आसानी से हज़ारों व्यक्तियों तक सूचना पहुंचा पाते हैं।

यहीं एक दूसरी बात भी है- नकारात्मकता, गुटबाज़ी और बेमतलब का विवाद। बहस और विवाद स्वस्थ हों तो बहुत कारगर होते हैं, किसी भी भाषा के साहित्य को जीवंत बनाते हैं लेकिन यहां अक्सर जो विवाद होते हैं साहित्य पर नहीं व्यक्ति, उसके अहम् और उसकी अहमन्यता पर होते हैं। लोगों में खुद को बहुत महत्व देने और किसी भी किस्म की आलोचना बर्दाश्त न करने की प्रवृत्ति समाज में भी बढ़ रही है और यहां भी। मैंने देखा है कि कुछ लोग कुछ ख़ास लोगों की किताबों, पोस्ट्स और कार्यक्रमों पर ही बोलते हैं बाकी ऐसी चुप लगाते हैं कि साफ़ दीखता है। यह कैसा साहित्य प्रेम है जो लिखे हुए हर्फ़ों से ज्यादा उन्हें लिखने वालों से होता है? ज्यादातर बातें फ़ौरी तौर पर कह दी जाती हैं, लोग तिल का ताड़ बना लेते हैं, आए दिन एक नई बहस होती है जिसमें मुद्दा नहीं अहम् ही मुख्य होता है। अभियान जैसे चल जाते हैं।

सकारात्मक भूमिका और ऊर्जा का स्रोत

शायक आलोक (युवा कवि)

मैं एक अटपटी कल्पना करता हूं कि क्या होता अगर मुक्तिबोध के समय फेसबुक होता और नहीं कहते हुए भी मुक्तिबोध अपना दुःख किसी पोस्ट में कहते? महती जिम्मेवारी श्रीकांत वर्मा या अज्ञेय की नहीं होती कि 'छाप दिया' बल्कि बिना छपे भी मुक्तिबोध जीवित रहते हो कवि-सुख भोग लेते! बहरहाल, विशेष कल्पनाओं और अटपटेपन की छूट नहीं लेते हुए भी क्या सहज यह नहीं सोचा जा सकता कि सोशल मीडिया ने साहित्यकारों और इस प्रकार हिंदी साहित्य के दायरे में अलग तरह का विस्तार किया है? फेसबुक और उससे भी अधिक विमर्श के लिए खुले साहित्यिक ब्लॉग्स के विशेष संदर्भ में यह देखा जा सकता है कि हिंदी के व्यापक रचना-संसार तक की दूरी माउस के एक क्लिक और गूगल सर्च पर कुछ की-वर्ड टाइप करने तक सीमित हो गई है। इसमें बुरा कुछ नहीं है। मैं सोशल मीडिया के निंदकों और चिढ़ाकुओं में कई वरिष्ठ साहित्यकारों को देखता हूं तो आश्चर्य होता है। 'फूल-पत्ती कवयित्री' और 'पाठक नहीं बत्तख' पदावली गढ़ी थी मैंने, ऐसी ही किसी चिढ़ में। चिंता यह कि कविता के उदाहरण परिप्रेक्ष्य में यदि हम फेसबुक पर नए कविता पाठक तैयार भी कर रहे हैं तो उन्हें कविता की कैसी फ़ीड मिल रही है अथवा पाठक कैसे कवियों को प्रतिष्ठा प्रदान कर रहे हैं और इस प्रकार साहित्य के रचनात्मक प्रसार का उद्देश्य कितना पूरा हो रहा है! ख़ैर, यह भी तो है कि मूर्खों के अपने पाठक-संपादक-आलोचक-प्रस्तावक होते हैं और वह एक दूसरी ही दुनिया है, वह दुनिया पहले से रचित है, सोशल मीडिया ने इसे 'खुला' भर कर दिया है। उस दुनिया से कनफ्लिक्ट की राह नहीं चुननी चाहिए। गंभीर साहित्य के प्रसार, नए आवकों के दर्ज होने, नए योग्य पाठकों में साहित्यिक अभिरुचियों का रोपण करने, विभिन्न पीढ़ियों के बीच रचनात्मक संवाद, निकटस्थ पीढ़ियों के लव-हेट संबंध आदि तमाम मानकों पर सोशल मीडिया ने अपनी सकारात्मक भूमिका खुलकर निभाई है। अगर नकारात्मकता का कोई संघर्षण इसके साथ है भी तो मैं सोचता हूं कि और बेहतर की ऊर्जा भी इससे ही निकलेगी। ❑



सोशल मीडिया की साहित्य के प्रसार में भूमिका

वीणा वत्सल सिंह



सोशल मीडिया ने हिंदी साहित्य को एक नया क्षितिज प्रदान किया है। खासकर फेसबुक ने लोगों के सामने एक विस्तृत कैनवास रख दिए और सबने अपने मनमाने रंगों से इसे सजाना शुरू किया; जो आज भी जारी है। इसमें भला साहित्यकार क्योंकर पीछे रहते! उन्होंने भी अपने शब्दों के रंग भरे इस पर बेशुमार। विशेषकर, ऐसे साहित्यकार जो हिंदी साहित्य में मठाधीशी के शिकार रहे या फिर किसी तरह की गुटबाज़ी में कभी नहीं रह पाए- उन्हें अपना साहित्य एक विशाल पाठकवर्ग तक पहुंचाने का सुनहरा अवसर सोशल मीडिया ने उपलब्ध कराया।

स्त्री-लेखन को तो एक नया आयाम ही मिल गया। जो स्त्रियां किसी संकोच या किसी और कारण से अपनी भावनाएं चुपचाप किसी डायरी या कॉपी में लिखकर अपने कपड़ों की अलमारी में छुपा रखती थीं और जो रचनाएं उनके साथ ही समाप्त हो जाया करती थीं, वे सभी फेसबुक के आने से एकदम से सामने आ गईं। अब कविताओं से दाल बघारी जाने लगी और कहानियों से छौंकी जाने लगीं सब्ज़ियां। मैंने खुद स्वयं को एक बार फिर से गढ़ा फेसबुक की ही मदद से। पारिवारिक उलझनों और जिम्मेवारियों ने मुझे साहित्य से लगभग 20 वर्षों तक काट रखा लेकिन, यह 20 वर्षों का वनवास खत्म किया फेसबुक ने। शुरुआती दौर में कुछ सामान्य कविताएं और लघुकथाएं लिखकर पोस्ट करती थी। जिस पर कुछ वरिष्ठों की प्रोत्साहन भरी टिप्पणियां आती थीं और फिर मेरी कल्पना शब्दों के आकाश में उड़ान भरने लगती थी। धीरे-धीरे लेखनी ने गति पकड़ी और एक दिन वह आया जब मन में गहरा आत्मविश्वास भर गया। बोधि प्रकाशन के काव्य-संग्रह 'शतदल' जिसका संपादन हमारे समय के वरिष्ठ कवि विजेंद्रजी ने किया उसमें फेसबुक पर लिखने वाले सौ कवियों के बीच मेरी कविताओं को भी स्थान मिला। इसके अलावा अब कई प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में भी कविताएं प्रकाशित होने लगीं। मन के उत्साह ने अंगड़ाई ली और शब्दों ने गति पकड़ी। लिख लिया मैंने एक उपन्यास 'तिराहा' जिसे पिछले दिनों बोधि प्रकाशन ने प्रकाशित किया। बात केवल रचने तक ही नहीं रही, मेरी फेसबुक फ्रेंड सहृदयी मोदी, जो कि प्रतिलिपि डॉट कॉम की उत्तर भारतीय भाषा प्रमुख होने के साथ-साथ प्रतिलिपि डॉट कॉम की को-फाउंडर भी हैं, ने मुझसे प्रतिलिपि का हिंदी सेक्शन संभालने को कहा। मन फिर शंकाओं से भर गया। मुझे नौकरी छोड़े हुए भी 18 साल हो गए थे। अब इतने लंबे अंतराल के बाद फिर से एक व्यवसायिक प्रतिष्ठान से जुड़ने के लिए भी अतिरिक्त हिम्मत की ज़रूरत थी। फिर से घर के सदस्यों से मिली हिम्मत के साथ फेसबुक के मित्रों क सामने भी यह संशय ले उपस्थित हुई। सबने मुझे जो हौसला, हिम्मत और सहयोग दिया उन सबसे प्रतिलिपि डॉट कॉम में मैंने अन्य प्रोफेशनल्स के बीच अपनी पहचान बनाई। कई लोग फेसबुक की आलोचना करते नहीं थकते लेकिन मैं तो यही कहूंगी कि अगर आज फेसबुक नहीं होता तो मैं और अन्य प्रतिभाएं जो इसके माध्यम से लगातार परवान चढ़ रही हैं, गुमनामी के अंधेरे में ही कहीं दफ़न हो जातीं। आभारी हूं मैं फेसबुक की। जैसाकि, मैंने देखा और समझा फेसबुक ने संपूर्ण साहित्यिक जगत को एक मंच पर ला दिया है। आज लेखक / कवि अपने पाठकों के नज़दीक पहुंच रहे हैं। पाठक उनसे उनकी रचनाओं के बारे में बिना किसी बाधा के बातें कर रहे हैं। इतना ही नहीं साहित्यकारों, संपादकों तथा प्रकाशकों की आपसी दूरियां कम हुई हैं। सभी एक-दूसरे को समझने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक ऐसा सुखद बदलाव है जो साहित्य के सुनहरे भविष्य के प्रति आश्वस्त करता है।

सोशल मीडिया का ही एक परिष्कृत रूप है प्रतिलिपि डॉट कॉम। जो आज एक साथ सात भारतीय भाषाओं के साहित्य को लगभग दो करोड़ पाठकों तक लगातार पहुंचा रहा है और यह सब हो रहा है फेसबुक के माध्यम से ही।

हिंदी साहित्य में हमेशा से ही सुनने में आ रहा है कि साहित्य के पाठक निरंतर कम हो रहे हैं लेकिन, प्रतिलिपि पर प्रकाशित साहित्य के पाठकों की बड़ी संख्या इस भ्रम को तोड़ रही है। आज लोग पढ़ रहे हैं और खूब पढ़ रहे हैं, वह भी अपनी भाषा में (बचपन से अंग्रेज़ी माध्यम में पढ़े युवाओं की बड़ी संख्या है प्रतिलिपि पाठक के रूप में)। इतना ही नहीं मुझे अपने काम के दौरान कुछ ऐसे प्रसंगों से दो-चार होना पड़ा है कि अगर उसका ज़िक्र न करूं तो यह लेख पूर्ण नहीं होगा किसी तकनीकी दोष के कारण कुछ पाठक कहानी ओपन कर नहीं पढ़ पा रहे।

मैं उनकी प्रॉब्लम उनसे सारे डिटेल्स लेकर प्रतिलिपि- टेक्नीकल टीम को भेजती हूं। टीम अगले दिन तक उस दोष को ठीक नहीं कर पाती है; हालांकि लगातार उस पर काम हो रहा है- मुझे उन पाठकों के मैसेज मिलने शुरू हो जाते हैं- 'मैं आपसे बहुत गुस्सा हूं , मुझे आज फ़लां कहानी पढ़ने का मन था और मैं नहीं पढ़ या रही / रहा। आप जल्द से जल्द एरर ठीक करें वरना ....'।

यहां तक तो ग़नीमत है लेकिन दूसरा, तीसरा या चौथा मैसेज खोलते ही कहानियां नहीं पढ़ पाने के कारण गुस्से में लिखी गालियां भी मिल जाती हैं। ऐसे मैसेज़ न तो हंसने देते हैं न ही रोने। एक बार मन में खयाल आता है उस पाठक के पढ़ने की भूख का जो नहीं पढ़ पाने की स्थिति में बेचैन है और गुस्से में अपनी शालीनता की हदें लांघ रहा है। वहीं दूसरी ओर खयाल आता है कि साहित्य इंसानी वृत्तियों को परिष्कृत भी करता है और हमें अभी इस दिशा में इतना अधिक काम करना है कि पाठक स्वयं को नियंत्रित रख पाएं। यहां यह ग़ौर करने की बात है कि एक ओर साहित्यकारों

पृष्ठ 46 पर जारी

स्त्री रचनाधर्मिता और सोशल मीडिया

सोशल मीडिया एक ऐसा माध्यम है जो अपने विचारों को प्रेषित करने का सबसे सुगम माध्यम है जिसमें हमें अपने विचारों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया भी तुरंत प्राप्त हो जाती है और हमारी सोच को एक नई दिशा भी मिल जाती है। हमारी सोच और विचारों का दायरा बढ़ने लगता है तथा हम एक नई दुनिया में प्रवेश करने लगते हैं जहां बहुत से लोग हमारे विचारों से सहमत होते हैं और जो सहमत नहीं होते उनके तर्कपूर्ण विचार सोचने को मजबूर करते हैं, बता रही हैं **वंदना गुप्ता**



आज वैचारिक क्रांति को सोशल साइट्स ने एक ऐसा मंच प्रदान किया है जिसने बौद्धिक जगत में एक तहलका मचा दिया है। कोई इंसान, कोई क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। सूचना और संचार का एक ऐसा साधन बन गया है जिसमें कहीं कोई प्रतीक्षा नहीं, मिनटों में समाचार सारी दुनिया में इस तरह फैलता है कि हर ख़ास-ओ-आम इससे जुड़ना चाहता है।

फेसबुक, ट्विटर, ऑरकुट या ब्लॉग सभी ने अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है और अपना ख़ास योगदान दिया है। आज जागरूकता के क्षेत्र में इन साइट्स ने एक ऐसा स्थान हासिल किया है जिसे नकारा नहीं जा सकता। और इसका ताज़ा उदाहरण मिस्र हो या लीबिया या फिर हमारा देश भारत सब जगह क्रांति को परवान चढ़ाने में इन साइट्स का ख़ास योगदान रहा है। सबने अपनी-अपनी तरह से बदलाव लाने के लिए योगदान दिया। आज जैसे ही कोई भी नई जानकारी हो या कोई राजनैतिक या सामाजिक हलचल उसके बारे में सबसे पहले यहां सूचना मिल जाती है। यहां तक कि कोई भी क्षेत्र हो चाहे सरकारी या गैर सरकारी सब इनसे जुड़े हैं। इसका ताज़ा उदाहरण देखिए, हमारी सरकार ने ही ट्रैफिक पुलिस द्वारा किए चालान हों या किसी ने कोई नियम भंग किया हो, उसके बारे में ताज़ा अपडेट्स यहां डाले हैं ताकि कोई भी हो सबको एक समान आंका जाए और उसके ख़िलाफ़ उचित कार्यवाही की जा सके और इसका असर भी देखने को मिला। पुलिस ने भी अपनी साईट बनाई है जिस पर जब चाहे कोई भी अपनी शिकायत दर्ज करवा सकता है तो जब ये ऐसे उचित माध्यम हैं कि सबकी हर जरूरत को पूरा करते हैं।

सोशल मीडिया एक ऐसा माध्यम है जो अपने विचारों को प्रेषित करने का सबसे सुगम माध्यम है जिसमें हमें अपने विचारों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया भी तुरंत प्राप्त हो जाती है और हमारी सोच को एक नई दिशा भी मिल जाती है। हमारी सोच और विचारों का दायरा बढ़ने लगता है तथा हम एक नई दुनिया में प्रवेश करने लगते हैं जहां बहुत से लोग हमारे विचारों से सहमत होते हैं और जो सहमत नहीं होते उनके तर्कपूर्ण विचार सोचने को मजबूर करते हैं। सोशल मीडिया के माध्यम से ना सिर्फ कविता, कहानियां ही लिखी जाती हैं बल्कि इसके माध्यम से देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक गतिविधियों पर भी विचारों का आदान-प्रदान होता है।

सभी जानते हैं कि आज परिवार छोटे-छोटे हो गए हैं और दोस्तों तथा रिश्तेदारों से भी मेल-मिलाप सिर्फ कुछ ख़ास आयोजनों पर ही संभव हो पाता है। ऐसे में इंसान का सामाजिक दायरा बहुत ही संकुचित होने लगता है और वह अपने घर की चारदीवारी में खुद को कैदी सा महसूस करने लगता है और फिर एक वक्त आता है जब उसे ये लगता है कि उसे कुछ ऐसा करना चाहिए जिससे उसे आत्मसंतुष्टि मिले और जब वह ऐसा नहीं कर पाता तब मानसिक रूप से अस्वस्थ होने लगता है और एक तरह की चिड़चिड़ाहट, उकताहट उसमें पैदा होने लगती है जिसका असर उसके घर, परिवार, समाज और उसकी कार्यक्षमता पर पड़ने लगता है जो कभी-कभी बहुत ही ख़तरनाक रुख़ अख़्तियार कर लेता है। इन हालात में सोशल मीडिया ने एक बहुत ही सुंदर और स्वस्थ प्लेटफॉर्म उपलब्ध करवाया है जिसने इंसान के जीने और सोचने को नई दिशा दी और उसके जीवन की धारा ही बदल दी।

जब ऐसा माध्यम उपलब्ध हो तो कैसे संभव है स्त्री जो आधी आबादी है, इससे अछूती रह जाए। उसका योगदान भी उतना ही जरूरी है जितना अन्य का। सोशल मीडिया ने स्त्री को अभिव्यक्ति का एक सुनहरा द्वार उपलब्ध करवाया है जिसमें प्रवेश करते ही उसे एक ऐसे संसार का दर्शन होता है जहां वह अकेली नहीं होती। उसके जैसी जाने कितनी हमजोलियां वहां विचरण कर रही होती हैं तो उसमें भी ऊर्जा का संचार होता है। उसे समझ आता है कि कैसे खुद को अभिव्यक्त कर सके। उसकी अपने लिए आख़िर क्या उपयोगिता है? क्योंकि सोशल साइट्स ऐसा माध्यम है जहां हर उम्र का हर वर्ग का स्वागत है। जब ऐसा संसार एक स्त्री को मिलता है तो जो वक्त ने उसके पांव में ज़ंजीर बांधी होती है उसे खोलकर उड़ान भरने की उसकी चाह प्रबल हो जाती है और भरने लगती है एक स्त्री उड़ान।

सोशल साइट्स या सोशल मीडिया के माध्यम से स्त्री एक अनोखे संसार में प्रवेश तो कर लेती है लेकिन वहां उसे पग-पग पर संभलकर चलने की जरूरत होती है। उसके लिए जरूरी होता है पहले उस संसार का अवलोकन करे। शनैः शनैः खुद को अभिव्यक्त करे क्योंकि ये वह संसार होता है जो होता तो आभासी ही है, जहां नाम और रूप दोनों वास्तविक भी होते हैं तो बदले हुए भी। ऐसे में एक स्त्री के लिए जहां ये अभिव्यक्ति का एक शानदार प्लेटफार्म होता है तो कभी-कभी लापरवाही के चलते बदनामी का कारण भी बन सकता है। इसलिए बहुत सोच-समझकर जब स्त्री इस माध्यम में आगे बढ़ती है तो उसे पता चलता है कि क्षेत्र कोई हो, एक तो प्रतियोगिता और दूसरे पुरुष वर्ग दोनों हर जगह वैसे ही मौजूद होते हैं जैसे समाज में

क्योंकि वह आए तो उसी समाज से होते हैं। इतना सब होते हुए भी एक स्त्री जब यहां के वातावरण से परिचित हो जाती है तब संभालती है मोर्चा और बढ़ती है आगे। जहां वह अपनी सफलता के झंडे भी गाड़ती है और अपने अस्तित्व से भी रू-ब-रू होती है।

आज सोशल मीडिया ने जाने कितनी ही स्त्रियों को उनके अस्तित्व से परिचित करवाया है। वह जो डरी, दबी, सहमी सी ज़िंदगी जी रही होती थी आज खुद को एक मुकाम पर पाती हैं, जब अपने अंदर की प्रतिभा से परिचित होती हैं क्योंकि ये वह माध्यम है जहां तुरंत प्रतिक्रिया मिलती है और प्रतिक्रिया वह खुराक़ होती है जो किसी को भी प्रोत्साहित या हतोत्साहित कर सकती है। जब एक स्त्री को सकारात्मक प्रतिक्रिया मिलती है या कुछ शुभचिंतक उसे उसकी ग़लतियां आदि समझाते हैं और वह उन्हें सुधार जब आगे बढ़ती है तो उसके हौसलों की उड़ान का कोई अंदाज़ा भी नहीं लगा सकता।

आज 40 पार की महिलाओं का एक बड़ा वर्ग जब अपनी ज़िम्मेदारियों से एक हद तक मुक्त हो जाता है तो सोशल मीडिया का ही रुख़ करता है। आज इन महिलाओं में से जाने कितनी महिलाओं को अपने अंदर की प्रतिभा की पहचान इन्हीं माध्यमों से हुई है क्योंकि कोई ब्लॉग पर तो कोई फेसबुक पर तो कोई ट्विटर पर सक्रिय है जहां उसकी रुचि के लोग उसके साथ जुड़े हैं फिर वह कहानीकार हो, कवयित्री, लेखिका, समाजसेवी, गृहणी या अन्य किसी भी विधा में निपुण। सबको अपने जैसे लोग यहां मिलते हैं तो उनकी ज्यादातर समस्याएं और बातें एक सी होती हैं तो सब जल्दी से एक दूसरे से न केवल जुड़ जाती हैं बल्कि सराहती भी हैं और आगे बढ़ने में मदद भी करती हैं जिससे एक नया संसार उनके सामने खुलता है तो उनके अंदर भी हौसले और ऊर्जा का संचार होता है और ये आत्मविश्वास जन्म लेता है, 'हां, वह भी कुछ कर सकती है।' जाने कितनी ही स्त्रियों को इन माध्यमों से न केवल पहचान मिली बल्कि सम्मानित भी हुई जो किसी उपलब्धि से कम नहीं उस स्त्री के लिए जिसे कल तक घर-परिवार में नकारा ही गया हो।

आज इंटरनेट की सुविधा के कारण दूर-दराज़ के क्षेत्रों तक सोशल मीडिया की पहुंच है तो वहां की स्त्री भी पल में विश्व के किसी भी कोने में बैठे व्यक्ति से संपर्क कर सकती है। अपनी रचनाएं उस तक पहुंचा सकती है और उनकी प्रतिक्रियाएं उस तक पहुंच सकती हैं जो उसके लिए एक जरूरी खुराक का काम करती हैं। यदि कोई स्त्री कवयित्री या लेखिका या कथाकार है तो जरूरी नहीं उसे पोस्ट ऑफिस ही जाना पड़े और वहां से अपनी रचनाएं भेजनी पड़े और फिर वह भी संबंधित तक पहुंच ही पाएं। आज एक ईमेल किया और सामग्री दूसरे तक तुरंत पहुंच जाती है और वह छप भी जाती है फिर चाहे विदेश की पत्रिका हो या किताब। इन छोटी-छोटी बातों ने उसके हौसले में वृद्धि तो की ही, उसमें भी एक विश्वास जगाया कि आज उसका लेखन या उसकी कला संसार के कोने-कोने तक पहुंच रही है और सराही जा रही है। किसी भी स्त्री के लिए ये एक उपलब्धि से कम नहीं कि संसार के कोने-कोने में वह पहुंच रही है, ख़ासतौर से वह स्त्री जिसने कभी घर से बाहर की दुनिया देखी ही न हो। जो कभी चूल्हे-चौके से बाहर निकली ही न हो। उस स्त्री की कल्पना को, उसके सपनों को जब विस्तार मिलता, तो उसका आकलन करना मुश्किल है। कल तक शायद उनके घर के लोग भी नहीं जानते हों उनकी प्रतिभा के बारे में लेकिन जब वह पुरस्कृत या सम्मानित होती हैं तो वह घर ही नहीं वह गांव, वह शहर, वह समाज भी उन्हें सम्मानित दृष्टि से देखता है। ये एक ऐसी उपलब्धि होती है जिसे शब्दों में व्यक्त करना उनके खुद के लिए असंभव हो जाता है। सोशल मीडिया ही वह माध्यम है जिसने हर बंधन को दरकिनार कर एक नया आसमान उन्हें मुहैया करवाया है। आज सोशल मीडिया के अस्तित्व को किसी भी तरह से नकारा नहीं जा सकता।

आज एक स्त्री यदि आवाज़ उठाती है तो वह दूर तक जाती है। उसका कारण है सोशल मीडिया जहां किसी के प्रति कोई भेदभाव नहीं। किसी के साथ अन्याय हुआ हो या किसी की कोई उपलब्धि हो, पलभर में सुर्खी बन जाती है जो एक स्त्री के व्यक्तित्व के विकास में सहायक ही सिद्ध होता है जब उसे लगता है कितने लोग उसके साथ हैं।

जो स्त्री कल घर की चारदीवारी से बाहर भी पांव नहीं रखती थी आज सोशल मीडिया के माध्यम से जब वह अपनी पहचान के शिखर को छूने लगती है तो न केवल समाज में बल्कि घर में भी वह स्वीकृत होने लगती है। उसके अस्तित्व को एक पहचान मिलने लगती है। यह उसके लिए किसी उपलब्धि से कम नहीं क्योंकि आधी आबादी के योगदान को आज तक हर स्तर पर नकारा ही गया है।

कोई चाहे तो अपने जीवन के अनुभव यहां व्यक्त कर जाने कितनो का मार्गदर्शन कर सकती है और इस तरह एक समाजसेवी का उदाहरण बन जाती है और खुद को संतुष्ट महसूस करती है तो कोई अपनी प्रतिभा का लोहा जब मनवाती है तो कल जिन्होंने उसे नकारा था आज स्वीकारने लगते हैं।इसमें एक उदाहरण प्रस्तुत है- एक लेखिका है रश्मि रविजा जिसके ब्लॉग को सब बड़े चाव से पढ़ते थे क्योंकि वह ग़ज़ब की किस्सागो हैं तो फिर किस्से हों या संस्मरण या फिल्म समीक्षा या फिर कहानियां सबमें सिद्धहस्त। जो भी पढ़ता उसके साथ बहने लगता यहां तक कि कई बार उसके ब्लॉग पर अच्छी-ख़ासी बहस भी होती और वह तर्कपूर्ण जवाब भी देतीं। सब उन्हें कहते अपनी कहानियों का संग्रह निकलवाओ लेकिन उन्होंने उस समय तो इस पर ध्यान नहीं दिया और लगभग 4-5 साल निकल गए लेकिन अभी पिछले साल ही उनका उपन्यास 'कांच के शामियाने' आया जो स्त्री विषयक होने के साथ स्त्री-विमर्श का एक जीता-जागता सबूत बना तो क्या ये सोशल मीडिया के माध्यम से एक स्त्री को मिली पहचान नहीं। प्रतिभाएं हैं लेकिन उन्हें उचित प्लेटफार्म न मिलने की वजह से अक्सर विलुप्त ही रह जाती हैं मगर रश्मि जैसी जाने कितनी ही स्त्रियां हैं जो सोशल मीडिया के माध्यम से ही प्रकाश में आईं फिर वह चाहे शिखा वार्ष्णेय हों जो लंदन में रहते हुए भी हिंदी की सेवा कर रही हैं या फिर शैलजा पाठक, निरुपमा सिन्हा, इंदु सिंह, रश्मि प्रभा, सुनीता शानू, हरकीरत हीर, निशा कुलश्रेष्ठ, अनुलता राज नायर, ,शोभा रस्तोगी आदि। इन सबको एक सशक्त पहचान इसी सोशल मीडिया की वजह से ही मिली। स्त्री में संभावनाएं तो युगों से भरी पड़ी थीं लेकिन माध्यम के अभाव में अक्सर बिना व्यक्त हुए ही काल के गाल में समाहित होती रहीं। सोशल मीडिया स्त्री की अभिव्यक्ति का एक स्वर्णिम काल बन उभरा है तो जल्दी स्वीकार्य भी नहीं हो रहा। जल्दी से एक स्त्री को आगे बढ़ने भी नहीं दिया जाता। हर हथकंडे अपनाए जाते हैं उसे हतोत्साहित करने के लेकिन जो इन समस्याओं की अनदेखी करती हैं आगे बढ़ जाती हैं।

सोशल मीडिया यूं तो आभासी दुनिया है लेकिन यहां कदम रखने के बाद कब आभास, भासित होने लगता है, पता ही नहीं चलता क्योंकि जब आप अपनी पहचान बनाने लगते हैं तब एक वक्त ऐसा आता है जब आपको दुनिया के सामने आना ही पड़ता है और तब स्त्रियां व्यक्तिगत रूप से रू-ब-रू होती हैं तो एक नया संसार उनके सामने खुलता है। जब उनकी कला या रचना पर प्रतिक्रिया देने वाले उनके सामने होते हैं वह एक ऐसा अनुभव

आज सोशल मीडिया ने जाने कितनी ही स्त्रियों को उनके अस्तित्व से परिचित करवाया है। वह जो डरी, दबी, सहमी सी ज़िंदगी जी रही होती थीं आज खुद को एक मुकाम पर पाती हैं, जब अपने अंदर की प्रतिभा से परिचित होती हैं क्योंकि ये वह माध्यम है जहां तुरंत प्रतिक्रिया मिलती है और प्रतिक्रिया वह खुराक़ होती है जो किसी को भी प्रोत्साहित या हतोत्साहित कर सकती है। जब एक स्त्री को सकारात्मक प्रतिक्रिया मिलती है या कुछ शुभचिंतक उसे उसकी ग़लतियां आदि समझाते हैं और वह उन्हें सुधार जब आगे बढ़ती है तो उसके हौसलों की उड़ान का कोई अंदाज़ा भी नहीं लगा सकता।

होता है जिसमें लगता है जैसे हम तो इन्हें जाने कब से जानते हैं क्योंकि उससे पहले ही चाहे पाठक से बात करते रहे हों लेकिन सामने आने पर एक आंतरिक खुशी का अनुभव होता है। साथ ही कुछ नए लोगों से जुड़ाव भी होता है। यहां जो कल आभासी था कुछ वक्त बाद इतना अपना हो जाता है कि दुनिया ही बदल जाती है।

स्त्रियों के लिए सोशल मीडिया जहां वरदान साबित हुआ है तो अभिशाप भी। जैसे पहले भी कहा जा चुका है, यहां फूंक-फूंक कर कदम रखने की जरूरत है। यदि एक भी कदम ग़लत पड़ा, सारा किया धरा मिट्टी हो जाता है। यहां सभी तरह के लोग होते हैं तो उन्हें जल्दी वह पहचान नहीं पातीं और धोखा खा जाती हैं ख़ासतौर से एक युवा लड़की, जो नई-नई दोस्ती करती है जिनमे लड़के भी होते हैं और लड़कियां भी। अब क्योंकि कोई किसी को जानता नहीं, एक आभासी दुनिया है ये तो नहीं पता चलता कौन किस मकसद से मिल रहा है। उनकी मीठी-मीठी बातें और प्रलोभन अक्सर लड़कियों के शोषण का कारण बनते हैं। जो लड़कियां जल्द से जल्द सब कुछ पाना चाहती हैं वह उतनी ही जल्दी शिकार बन जाती हैं और कमोबेश यही स्थिति वैवाहिक स्त्रियों की भी होती है। अक्सर ख़बरों में ऐसे किस्से सुनने और पढ़ने को मिलते रहते हैं कि कैसे दोस्ती की आड़ में किसी का दैहिक तो किसी का आर्थिक शोषण हो गया। अभी कुछ दिन पहले ही एक बुजुर्ग जो कि एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं, मुझे कहते हैं, मुझे सर मत कहो तो मैंने कहा क्या कहूं तो कहते हैं मेरा नाम लो। मैंने कहा मैं आपका नाम नहीं ले सकती ये मेरी संस्कृति नहीं तो आपके नाम के साथ चलिए जी लगाकर संबोधित करूंगी तो कहने लगे नहीं जी भी मत लगाओ क्योंकि मैं खुद सोशल मीडिया की ही देन हूं तो समझ सकती हूं यहां इस तरह के वाक़ये अक्सर हर दूसरी स्त्री के साथ होते हैं। मेरे साथ ही जाने कितने वाक़ये ऐसे हुए जहां कहीं प्रतिष्ठित संपादक डोरे डालने को आतुर रहे तो कहीं कोई कवि महोदय अपने अकेलेपन को रोते हुए सामने आए। शायद ऐसे लोगों को लगता है स्त्री यहां सिर्फ इसीलिए आई है क्योंकि वह बेचारी है। उसे कुछ चाहिए और उस कुछ को वह दिलवा सकते हैं लेकिन एक कीमत वसूल कर इसलिए जरूरी है एक स्त्री के लिए ये समझना कि बेशक ये एक ऐसा संसार है जो उनके सपनों को उड़ान देता है मगर यदि ज़रा भी असावधानी बरती तो पंख भी कुतर देता है। चाहूं तो नाम भी दे सकती हूं कुछ लोगों के लेकिन हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं। बात है समझने की क्योंकि नाम कोई भी हो सकता है, क्या फर्क पड़ता है। पुरुष के वेश में कौन भेड़िया अपनी हसरतों की कुंडली मारे बैठा है ये कम से कम नई आने वाली स्त्रियां जान नहीं पातीं और कभी-कभी उनके जाल में फंस जाती हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पाने के लिए प्रयासरत रहना बुरा नहीं लेकिन शॉर्टकट अक्सर उनके भविष्य को अंधकारमय भी बना सकते हैं, ये उनके लिए जानना और समझना दोनों ही जरूरी है।

जिस तरह सिक्के के हमेशा दो पहलू होते हैं उसी तरह यहां भी हैं। हर अच्छाई के साथ बुराई का चोली-दामन का साथ होता है। अक्सर अति उत्साह में स्त्रियां कभी-कभी यहां निजी जानकारियां और अपनी फोटो आदि डाल देती हैं जिनका असामाजिक तत्व अक्सर दुरुपयोग कर या तो उन्हें ब्लैकमेल करते हैं या उनकी बदनामी जो कभी-कभी उनके मानसिक उत्पीड़न का भी कारण बन जाता है। इसलिए जरूरी है सावधानी बरतना। जो स्त्रियां सशक्त थीं उन्होंने अक्सर स्क्रीन शॉट लेकर फेसबुक जैसे माध्यम पर डाल दिए कि उनसे इस तरह की बात किस शख़्स ने की तो भी कुछ तो उनके पक्ष में बोले तो कुछ ने अपनी कुंठित सोच की वजह से उन्हीं पर दोषारोपण किया कि क्या जरूरत है किसी से ऐसे बात करने की। तो अक्सर देखा गया है दोनों तरफ़ से स्त्रियां ही पिसती हैं। इसलिए जरूरी है उनका सतर्क रहना। अपनी छठी इंद्रिय को सक्रिय रखना क्योंकि जैसे ही लगे कुछ गड़बड़ है उन्हें उनसे संबंध तोड़ लेने चाहिए नहीं तो बदनामी होते भी देर नहीं लगती। जितना ये प्रतिभाओं को सामने लाने का उपयुक्त माध्यम बना है उतना ही इसकी दुरुपयोगिता भी हुई है। बस जरूरत है विवेकपूर्णता से आगे बढ़ने की फिर सोशल मीडिया वरदान ही साबित हुआ है।

इसी प्रकार पुरुष सत्ता के अलावा भी स्त्री को स्त्री सत्ता से भी एक चुनौती मिलती है। यदि आप में प्रतिभा है तो फिर जिस भी क्षेत्र में आप कदम रखेंगी, आपके प्रतिद्वंदी स्वयंमेव पैदा हो जाएंगे। बेशक आप किसी के प्रति कुछ कहें न कहें, एक खेमा आपको हमेशा हतोत्साहित करने के अलावा आपके विरुद्ध षड्यंत्रों का जाल भी बिछा देगा। उस वक्त जरूरत होती है एक स्त्री को अपनी छठी इंद्रिय की। यहां मुखौटे लगाए जाने कितने चेहरे घूमते हैं तो जरूरी है सतर्क रहा जाए। यहां स्त्रियां किस हद तक जा सकती हैं, इसका अंदाज़ा भी कोई नहीं लगा सकता। दूसरों की बात से बेहतर होता है अपनी बात करना ताकि ग़लत तथ्य न जाएं तो इसका उदाहरण भी अपने-आप से ही देती हूं। जब मेरा कविता-संग्रह हिंदी अकादमी के सौजन्य से आया तो एक नहीं तीन-तीन स्त्रियों ने अकादमी तक एप्रोच लगाई कि इसका कविता-संग्रह अकादमी से नहीं आना चाहिए। मगर सच और झूठ कभी छुपते नहीं। मुझे भी विश्वस्त सूत्र से पता चला। इस किस्से में ग़लती सिर्फ़ इतनी हुई कि मैंने उन्हीं तीन स्त्रियों से अपने संग्रह की बात शेयर की थी और तो किसी को पता भी नहीं था तो एकदम पहचान में आ गई। उसके बाद भी वह अपनी हरकतों से बाज़ नहीं आईं। ख़ासतौर से एक क्योंकि उसका कविता-संग्रह भी साथ-साथ आया था तो अक्सर अनर्गल प्रलाप मेरे और मेरी कविताओं के बारे में करती रही यहां तक कि जिन लोगों से मेरे अच्छे संबंध थे उन मित्रों के मन में भी मेरे लिए शक के बीज बो दिए। यहां ये उदाहरण देने का सिर्फ़ इतना मकसद है कि किसी से भी अपनी उपलब्धियां या आगे की योजनाएं तब तक शेयर न करें जब तक वह क्रियान्वित न हो जाएं वर्ना एक स्त्री ही दूसरी स्त्री के पथ में बाधा बनी खड़ी मिलेगी जिस कारण कई बार कुछ स्त्रियां इतनी निराश या हताश हो जाती हैं कि अपने शौक को, अपनी रुचि को, अपनी प्रतिभा को दरकिनार कर बैठती हैं, जो अच्छा संकेत नहीं है। वैसे अभी मेरा एक उपन्यास भी आया है जिसके बारे में किसी को पता नहीं चला और जब आया तो भी कुछ स्त्रियां

नाराज़ हो गई कि पहले हमें क्यों नहीं बताया तब उन्हें बताना पड़ा कि दूध के जले हैं छाछ भी फूंककर पीते हैं। तो इस बात के लिए भी तैयार रहना होगा एक स्त्री को कि वह अपनी उपलब्धि या योजना के बारे में किसी को भी न बताए क्योंकि जो तुम्हें समझते होंगे वह हमेशा तुम्हारे साथ खड़े होंगे और वह ही सच्चे मित्र होंगे। जो स्त्रियां इन नकारात्मकताओं से पार पा लेती हैं वह बेशक इतिहास रचती हैं तो कैसे न कहें सोशल मीडिया ने आज स्त्रियों की रचनात्मकता को पंख दिए, विस्तार दिया, आकार दिया।

सोशल मीडिया में चूंकि आप जब भी कोई पोस्ट लगाते हैं तो वह एक तरह से सार्वजनिक हो जाती है तो सबकी उस तक पहुंच हो जाती है जिसे अच्छी लगती है वह शेयर भी करते हैं। ऐसे में यहां चोरी की संभावना हमेशा बनी रहती है और अक्सर बड़ी-बड़ी सेलेब्रिटी के साथ ऐसा होता रहा है।

आज हर इंसान वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, कामकाजी हो या घरेलू, पत्रकार हों या फिल्म सेलेब्रिटी सभी का रुझान सोशल मीडिया की तरफ़ बढ़ा है क्योंकि इसके माध्यम से इंसान दूसरों से इतनी आत्मीयता से जुड़ जाता है कि पता ही नहीं चलता कब संबंध इतने प्रगाढ़ हो गए कि लगता ही नहीं कि कभी एक-दूसरे को जानते ही नहीं थे। यहां तक कि देश में भी हर कोई चाहे नेता ही क्यों ना हो, अपनी बात इसके माध्यम से आम जन तक पहुंचाना चाहता है और यही सोशल मीडिया की व्यापकता का परिमाण है,..इसकी सफलता का सूचक है।

आज बड़ी-बड़ी सेलेब्रिटी सोशल मीडिया से क्यों जुड़ी हैं? क्योंकि उससे वह ज्यादा से ज्यादा लोगों तक चंद लम्हों में पहुंच जाते हैं तो यदि किसी स्त्री में प्रतिभा होती है तो वह चाहे तो फेसबुक जैसे माध्यम पर अपना एक पेज बनाकर ही काफी लोकप्रियता प्राप्त कर लेती है जैसे एक छोटा सा उदाहरण है, अभी हाल ही में अपराजिता शर्मा ने हिमोजी बना एक इतिहास रच दिया और थोड़े से समय में अपनी एक अलग पहचान बना ली। रविश कुमार ने उनका टीवी पर साक्षात्कार तक ले लिया तो भला कैसे संभव हुआ ये सब? इसी माध्यम की वजह से ही न! इसी तरह यहां कोई पाक कला में दक्ष हो या किसी भी अन्य विधा में, ब्लॉग या पेज बना खुद के लिए एक बड़ा प्रशंसक और पाठक वर्ग तैयार कर सकती है बस जरूरत है योजनाबद्ध तरीके से आगे बढ़ने की।

पितृसतात्मक समाज की जड़ें यहां भी बहुत गहरी हैं। वह जल्दी से नहीं चाहता कि कोई स्त्री बिना उसके अवलंबन के आगे बढ़े। इसलिए यदि किसी ऐसे विषय पर वह अपनी अभिव्यक्ति देती है जिस पर वह अपना एकाधिकार समझता है तो पल में उस स्त्री के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रियाओं का जाल बुनने लग जाता है और अपने जैसों को इस तरह सक्रिय कर उसका मानसिक उत्पीड़न करना चाहता है कि वह मैदान ही छोड़ जाए। ऐसे समय में जो स्त्री समझदार होती हैं वह अपनी राह खुद बना लेती हैं और उन लोगों की परवाह नहीं करतीं और न ही उन्हें जवाब दे अपनी ऊर्जा नष्ट करती है। औरों की बात क्या करूं सबसे पहले मैं ही इसका शिकार बनी। मैंने एक ऐसी कविता लिखी जो स्त्री-पुरुष संबंध को बेनक़ाब करती थी और ये बात पितृसत्ता को हज़म नहीं हुई जबकि फेसबुक पर वह बहुत सराही गई और ब्लॉग पर उसके ख़िलाफ़ एक बाक़ायदा साज़िश हुई जिसमें वह लोग शामिल थे जो आज ज़िंदा भी नहीं हैं। उन्होंने यहां तक कह दिया कि यह शॉर्टकट अपनाना चाहती है लेकिन उस वक्त तक मैं साहित्य के इस पहलू से अनजान थी तब भी अपनी बात गरिमापूर्ण तरीके से रखती रही लेकिन उन्हें हज़म नहीं हुई तब कुछ मेरे शुभचिंतकों ने कहा इसे हटा लो।

स्त्रियों के लिए सोशल मीडिया जहां वरदान साबित हुआ है तो अभिशाप भी। जैसे पहले भी कहा जा चुका है, यहां फूंक-फूंक कर कदम रखने की जरूरत है। यदि एक भी कदम ग़लत पड़ा, सारा किया धरा मिट्टी हो जाता है। यहां सभी तरह के लोग होते हैं तो उन्हें जल्दी वह पहचान नहीं पातीं और धोखा खा जाती हैं।

यहां कुंठित सोच वाले लोग हैं वह तुम्हारी बेबाकी हज़म नहीं कर सकते तो मैंने सबके कहने पर हटा दी लेकिन आज भी सबके कमेंट और पोस्ट ड्राफ्ट में सुरक्षित हैं। ऐसा ही अभी पिछले साल दामिनी यादव के साथ हुआ जब उनकी कविता 'माहवारी' फेसबुक पर वायरल हुई। उन्हें भी ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा लेकिन इस बार उनके सपोर्ट में काफी लोग थे या कहिए कुछ हद तक सोच में बदलाव आना शुरू हो गया तो उतना नकार उन्हें नहीं झेलना पड़ा। बेशक सोशल मीडिया एक वरदान है लेकिन तब भी एक स्त्री के लिए बहुत कठिन है डगर पनघट की।

इतनी सारी प्रतिकूलताओं के बावजूद भी एक स्त्री हार नहीं मानती क्योंकि यही उसका विशेष गुण होता है जो उसे सबसे अलग करता है। जीवन से, परिस्थितियों से लड़ने का जज़्बा उसमें जन्म से ही ही कूट-कूटकर भरा होता है शायद यही वजह है कि इन जगहों पर भी खुद को साबित कर देती है। आज स्त्री ने समय की आंख से आंख मिलानी सीख ली है। ❑

संपर्क : डी-19, राणा प्रताप रोड, आदर्श नगर, दिल्ली-110033

कृपया ध्यान दें

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता :

वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 48-53, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. : 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com



आजकल

साहित्य और संस्कृति की मासिक पत्रिका
एक प्रति का मूल्य : 22 रुपये
वार्षिक शुल्क : 230 रुपये, दो वर्ष का : 430 रुपये
तीन वर्ष का : 610 रुपये, विशेषांक : 30 रुपये प्रति अंक

सोशल मीडिया में हिंदी ग़ज़ल

आज जब हिंदी ग़ज़ल समकालीन युग में अपने पूरे तेवर, प्रासंगिकता, टटकेपन और मज़बूती से न सिर्फ अपने समय के प्रश्नों से टकरा रही है बल्कि दिनों-दिन इसका फलक इतना विस्तृत व वृहत्तर होता जा रहा है कि मुक्त छंद कविता के कई बड़े हिमायती इसके महत्व व बढ़ती लोकप्रियता को दबी ज़बान से ही सही स्वीकारने के लिए मजबूर हो गए हैं, ब्लॉग्स व फेसबुक पर लिखी जा रहीं ग़ज़लें भी पाठक को सिर्फ आनंदित नहीं करतीं बल्कि उसके मन को बेचैन और विचलित करती हैं, चर्चा कर रही हैं **मालिनी गौतम**



ग़ज़ल पहाड़ी झरने से निकलते उस बेरंग पानी की तरह है जिसमें जो भी रंग मिला दिया जाए वह उसी रंग को ग्रहण कर लेती है। यही कारण है कि आज हिंदी-उर्दू के साथ-साथ न जाने कितनी ही भाषाओं में ग़ज़लें प्रचुरता से लिखी जा रहीं हैं। मूलत: अरबी भाषा में जन्मी, फ़ारसी में पली-बढ़ी ग़ज़ल उर्दू में आकर एक बेहद लोकप्रिय विधा के रूप में प्रचलित होते हुए हिंदी में आई। अरबी और फ़ारसी के प्रचलित मिथकों, मुहावरों और मिज़ाज ने उर्दू में अपना रंग कुछ इस तरह दिखाया कि हिंदुस्तान की ज़मीन पर आने के बाद भी आज तक हिंदी ग़ज़लों पर उनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सौंदर्य, प्रेम, खुशबू, लावण्य, तारीफ़, शौर्य, जुल्म, सितम जैसे कितने ही अहसासों के चित्रण के लिए आज भी अधिकांश हिंदी ग़ज़लकार अपनी भाषा को दरकिनार कर उर्दू की ओर मुंह ताकते नज़र आते हैं। यही कारण है कि पचास वर्ष का एक लंबा समय बीत जाने के बाद भी हिंदी ग़ज़ल अपनी दशा और दिशा को लेकर दुविधा की स्थिति में खड़ी है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भले ही दुष्यंत कुमार के पहले हिंदी ग़ज़ल की कितनी ही लंबी परंपरा रही हो पर दुष्यंत कुमार ही पहले ग़ज़लकार हैं जिनकी विराट सफलता से प्रभावित होकर हिंदी में ग़ज़ल लिखने की होड़ मची और काव्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में ग़ज़ल को स्थापित करने के अथक प्रयासों की एक लंबी शृंखला प्रतिपादित हुई। आम बोलचाल की भाषा में बुनी हुई दुष्यंत कुमार की ग़ज़लें आपातकाल की दहशत, त्रासदी, उत्पीड़न, व्यथा, दमन और तानाशाही रवैये के ख़िलाफ़ अपने प्रतिरोधी तेवर की वजह से जनमानस के मन में राह बना सकी। दुष्यंत कुमार ने हिंदी ग़ज़ल को एक अलग भाषा, संस्कार, मुहावरा और मिज़ाज दिया।

हिंदी ग़ज़ल की उत्पत्ति व विकास की यात्रा उर्दू ग़ज़ल से सर्वथा भिन्न रही है। उर्दू ग़ज़ल की तरह गाने-बजाने, प्रेम या मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि वर्तमान परिवेश में व्याप्त विसंगतियां, अराजकता, विद्रूपताएं, अमानवीय व्यवहार के ख़िलाफ़ जनमानस में व्याप्त प्रतिरोध, नाराज़गी, असहमति, आक्रोश के तेवर हिंदी ग़ज़ल की राह निश्चित करते हैं मगर दुष्यंत की अकूत लोकप्रियता के बाद उनसे प्रभावित होकर हिंदी ग़ज़ल में रातो-रात दुष्यंत-सी ग़ज़लें कहने वाले ग़ज़लकारों की भीड़ खड़ी हो गई। उचित मार्गदर्शन के अभाव में ग़ज़लें शिल्प के स्तर पर, बहर की कसौटी पर ख़ारिज की जाने लगीं। हिंदी ग़ज़ल के सामने सबसे महत्वपूर्ण चुनौती थी कि चुस्त छंद और लय का ध्यान रखते हुए अपने समय के सामाजिक, राजनैतिक सच को उसकी संपूर्ण जटिलता के साथ व्यक्त करे। इतनी लंबी यात्रा के बाद भी मूलत: ग़ज़ल के छंद शास्त्र में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं दिखाई देता। उसका काव्यानुशासन आज भी इतना कठोर है कि अपने कथ्य को मज़बूती से प्रस्तुत करने के प्रयास में ग़ज़लकार ने जब भी ग़ज़ल की रूप-रचना में थोड़ी-बहुत छेड़खानी की, स्वतंत्रता ली तो ग़ज़ल-समीक्षकों ने उसकी ग़ज़लों को बहर से ख़ारिज मानकर दरकिनार कर दिया। हिंदी ग़ज़ल को ख़ारिज करने की इस मुहिम में हिंदी के गद्य-कवियों और आलोचकों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हिंदी ग़ज़ल के सामने सबसे बड़ा और विकट प्रश्न भाषा और उर्दू शब्दों की रुमानियत के प्रभाव से बाहर निकलने का था । अपने भावों व विचारों को ग़ज़ल के एक शे'र में पूरे दमख़म के साथ उतारने के लिए दुष्यंत ने एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग किया। हालांकि हिंदी ग़ज़लों में शुरुआत में जो एक कच्चापन था वह धीरे-धीरे दूर होता चला गया। धीरे-धीरे भाषा को परिपक्वता भी मिली। अरबी-फ़ारसी, उर्दू शब्दों के प्रति लगाव धीरे-धीरे कम हुआ और एक सहज भाषा का उपयोग शुरू हुआ जिसमें उर्दू व अंग्रेज़ी के उन शब्दों को सहजता से बुना जाने लगा जो आम बोल-चाल में बहुधा प्रयुक्त होते थे और जिनके अर्थ ग़ज़ल के नीचे लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ग़ज़लकारों का आग्रह अपनी भाषा के शब्दों और मुहावरों के प्रति बढ़ा, एक सरल-सहज, सामान्य बोलचाल की भाषा हिंदी ग़ज़ल की भाषा बन गई। विकास के पथ पर तेज़ी से गतिमान हिंदी ग़ज़ल, भाषा, संवेदना-अनुभूति, संरचना, अर्थ इत्यादि स्तरों पर हिंदी कविता के समकक्ष खड़ी दिखाई देने लगी। मानव जीवन के तमाम पहलू, अनुभव, सरोकार, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों की झांकी बेहद सघन रूप में दो मिसरों के शे'र में अभिव्यक्त होने लगी। समकालीन हिंदी ग़ज़ल के सामने चुनौतियों का अंबार है। सबसे बड़ी चुनौती तो यह है कि मुक्त छंद कविता के पक्षधर किसी भी हालत में हिंदी ग़ज़ल को आलोचना के क्षेत्र में उसका स्थान नहीं देना चाहते। वर्तमान में सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में व समकालीन हिंदी आलोचना के क्षेत्र में मुक्त छंद कविता के पक्षधरों का एकक्षत्र साम्राज्य है। पत्र-पत्रिकाओं में ग़ज़लें छपें, यहां तक तो वे उदार हो सकते हैं लेकिन उस पर आलोचनात्मक या विमर्शीय आलेखों

को उसका स्थान देने से वे कतराते हैं। शिखर पर बैठे हुए ये आलोचक ग़ज़ल को हिंदी कविता की एक विधा मानने से ही इंकार करते हैं और अगर कभी भूले-भटके चर्चा करते भी हैं तो उनका लहजा व दृष्टिकोण नकारात्मक, अमानवीय, तुर्श और उपेक्षापूर्ण होता है। वे आज भी ग़ज़ल को वाह-वाही पाने वाली एक लोकप्रिय विधा के रूप में ही देखते हैं और उनका स्पष्ट मत है कि सिर्फ मुक्त छंद कविता ही आम आदमी और समाज के यथार्थ, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक परिस्थितियों को उजागर करती हैं। समाज में व्याप्त भाषावाद, उपभोक्तावाद, नगरवाद, रूढ़िवाद, अंधविश्वास, भ्रष्टाचार, शोषण, व्यापारवाद, उत्पीड़न, अमीरी-ग़रीबी आदि समस्याओं तक पहुंचने में, उन्हें मुखर करने में समलकालीन हिंदी ग़ज़ल विफल सिद्ध हुई है। बक़ौल नामवर सिंह, ''ये भी एक विडंबना ही है कि जब स्वयं उर्दू के संवेदनशील कवि हिंदी के दोहा और गीत को उर्दू में लाने का यत्न कर रहे हैं, उस समय हिंदी के गीतकार उर्दू का उच्छिष्ट ग्रहण करने की होड़ लगाए हुए हैं''। वर्तमान की सभी तथाकथित नामी-गिरामी पत्रिकाएं जिन पर मुक्त छंद कविता के पक्षधरों का ही कब्ज़ा है वे भी समकालीन ग़ज़लों के प्रति नितांत अमानवीय, उपेक्षापूर्ण और उदासीन नज़रिया रखती हैं। ये पत्रिकाएं कभी-कभार ग़ज़ल पर इक्का-दुक्का आलेख प्रकाशित करके या फ़िलर के रूप में ग़ज़लों को स्थान देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती हैं। बहरहाल इन्हीं सब विषम और पक्षपातपूर्ण परिस्थितिओं के बीच बीसवीं शताब्दी के नब्बे के दशक में संचार क्रांति हुई। तकनीक एक लंबी यात्रा पर निकल चुकी थी। सूचना एवं संचार में प्रथम क्रांति हुई छापाख़ाने के आविष्कार के साथ। जो केवल बोला और सुना जाता था वह अब पढ़ा भी जाने लगा। पुस्तकें धीरे-धीरे घर-घर तक सुलभ होती चली गईं। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के साथ ही नवपूंजीवादी ताकतों का वर्चस्व पिछड़े और विकासशील देशों पर प्रभावी रूप से बढ़ता गया और उसके परिणामस्वरूप भारत में भी नवउदारवाद के साथ-साथ नवीन संचार तकनीक से संपन्न कंप्यूटरों और इलेक्ट्रॉनिक्स के अन्य उपकरणों का आगमन हुआ। ये तकनीकी संसाधन शुरुआत में तो देश को आगे बढ़ाने में विज्ञान की नवीनतम भूमिका का सपना दिखाकर लाए गए थे किंतु इनमें समाज, कला, संस्कृति और विचारों से संवाद करने की एक तकनीकी वैचारिकी का भी समावेश था जिसके फलस्वरूप संचार क्रांति के क्षेत्र में मोबाइल, ई-मेल व अंतरजाल (नेट) पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, ब्लॉग्स, फेसबुक, गूगल प्लस इत्यादि की शुरुआत हुई।

सोशल मीडिया के प्रवेश, मोबाइल व नेट की तकनीकी सुविधा ने मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया और दुनिया जैसे हर किसी की मुट्ठी में आ गई। तीव्र गति से वैचारिक आदान-प्रदान की सुविधा ने दूर-स्थित पारिवारिक सदस्यों और मित्रों को तो समीप लाने का प्रयास किया ही, अपरिचितों को भी परिचय के सूत्र में बांधने में भूमिका का निर्वहन किया। समाज के ताने-बाने में रिश्तों का एक संसार और जुड़ता चला गया। लोगों के विचार, भावनाएं, समस्याएं, समाधान सब कुछ साझा होने लगे। इस बीच राजनीति ने सोशल मीडिया का भरपूर दोहन किया तो वहीं साहित्य को भी सोशल मीडिया के रूप में एक अभिनव मंच मिला। प्रिंट मीडिया के युग में भारतीय साहित्य वर्ग-विशेष के लोगों की झोली का सामान बन गया था, इस बौद्धिक एकाधिकार को सोशल मीडिया ने पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया जिसका लाभ आम आदमी को मिला। सोशल मीडिया के कारण प्रिंट मीडिया की व्ययसाध्य दादागिरी समाप्त हुई तो साहित्य के नवांकुरों को पल्लवित-पुष्पित होने का भरपूर अवसर सहज ही उपलब्ध होता चला गया। इस बीच हिंदी ग़ज़ल को भी करवट बदलने का अवसर प्राप्त हुआ। सोशल मीडिया ने हिंदी ग़ज़ल को न केवल सुधी पाठक दिए अपितु उत्साहवर्धन के लिए प्रशंसक और टिप्पणीकार, परिमार्जन के लिए समीक्षक, संवर्धन के लिए स्त्रोत और ग़ज़ल-गोष्ठी के लिए एक वैश्विक मंच प्रदान किया। हिंदी ग़ज़ल का धुंधला क्षितिज तकनीक के सूर्य की लालिमा से दीप्त हो उठा। नेट पर हिंदी की वेब-पत्रिकाओं, हिंदी ब्लॉग्स व फेसबुक, ट्वीटर, गूगल प्लस, लिंक्डइन, ऑरकुट, माय स्पेस जैसी सोशल नेटवर्किंग साइट्स की शुरुआत हुई। फ़ेसबुक व अन्य सोशल साइट्स के माध्यम से साहित्य समृद्ध हुआ। प्रिंट मीडिया की सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की पहुंच यूं भले ही हज़ारों-लाखों पाठकों तक हो पर इन साइट्स के माध्यम से वे करोड़ों लोगों तक पहुंचने लगी हैं। कई पाठकों ने तो कितनी ही पत्रिकाओं का नाम तक नहीं सुना होता पर सोशल साइट्स के माध्यम से वे भी इनसे रूबरू हो रहे हैं। सभी प्रसिद्ध समाचार पत्र इंटरनेट पर सुलभ हैं। प्रिंट मीडिया की कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएं जो नेट पर भी उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं... 'हंस', 'मधुमती', 'साहित्य अमृत', 'आउटलुक', 'आधारशिला', 'कथाक्रम', 'कथाबिंब', 'पहल', 'परिकल्पना समय', 'लमही', 'वसुधा', 'वागर्थ', 'हरिगंधा', 'गर्भनाल', 'वीणा', 'अविराम साहित्यिकी' इत्यादि। नेट पर उपलब्ध वेब-पत्रिकाओं में हालांकि विशुद्ध रूप से ग़ज़ल से जुड़ी हुई पत्रिकाएं कम ही हैं, मगर फिर भी हिंदी ग़ज़ल के विकास में योगदान देने के लिए 'छंद प्रभा', 'अनुभूति', 'रचनाकार', 'समालोचना', 'जानकीपुल', 'आखरकलश', 'अक्षर पर्व', 'अभिव्यक्ति', 'सृजन गाथा', 'हिंद-युग्म', 'नव्या', 'परिकल्पना', 'वटवृक्ष', 'लेखनी', 'सृजन', 'साहित्य शिल्पी', 'गर्भनाल' आदि वेब पत्रिकाओं के योगदान से इंकार नहीं किया जा सकता। इन सभी ई-पत्रिकाओं का स्वरूप या कार्यपद्धति लगभग प्रिंट मीडिया की पत्रिकाओं-सा ही है क्योंकि यहां भी पत्रिकाएं किसी एक व्यक्ति विशेष या समूह के द्वारा ही संचालित की जाती हैं। चयन प्रक्रिया से गुज़रकर अच्छी रचनाओं को स्थान देने की प्राथमिकता और प्रतिबद्धता होती है। संपादक का एक दृष्टिकोण व नज़रिया यहां भी दृष्टिगोचर होता है पर चूंकि यहां पृष्ठ संख्या की कोई मर्यादा नहीं होती अत: आगे-पीछे अच्छे रचनाकारों और रचनाओं को स्थान मिलता रहता है। इसी तरह ब्लॉग एक व्यक्ति की स्वयं की पत्रिका है जहां वह स्वयं की रचनाएं अथवा अन्य रचनाकारों की रचनाएं भी पोस्ट कर सकता है। ई-पत्रिकाओं की तरह इनकी कोई मासिक, द्वैमासिक या त्रैमासिक अवधि निश्चित नहीं होती है। ई-पत्रिकाओं और ब्लॉग्स की गंभीरता फेसबुक की तुलना में अधिक दिखाई देती है। नेट पर रचनाएं पढ़ने के बाद पाठकों के पास तुरंत टिप्पणी करने का विकल्प उपलब्ध होने के कारण पाठक व लेखक के बीच एक सीधा संवाद स्थापित होता है। एक तरल वातावरण निर्मित होता है। ऐसे कई रचनाकारों के हिंदी ब्लॉग्स हैं जहां गंभीर व सघन विचार-विमर्श दिखाई देता है। इस सुलभ व सहज विमर्श की सुविधा के कारण रचनाकार को सुधार एवं साहित्यिक परिमार्जन का तत्काल अवसर उपलब्ध हो जाता है।

प्रिंट मीडिया में पाठक पत्रिकाएं तो पढ़ लेते हैं मगर कुछ ही पाठक इतने सक्रिय होते हैं जो रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाएं सीधे संपादक अथवा रचनाकार तक पहुंचाने की ज़हमत उठाते हैं। परिणामस्वरूप प्रिंट मीडिया के पाठक लिखित संवाद के अभाव में एकांगी होते हैं जबकि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के पाठक टिप्पणी एवं संवाद की उपलब्धता के कारण रचनाकारों

की सृजनशीलता का एक भाग बन जाया करते हैं। विभिन्न ब्लॉग्स पर रचनाओं के नीचे लिखी गई टिप्पणियों से स्वत: ही इस बात का अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि यहां पाठक भी अधिकतर ब्लॉगर हैं अर्थात् उनका अपना भी स्वयं का ब्लॉग है और वह स्वयं भी एक रचनाकार की संवेदना व दृष्टि रखते हैं। यही कारण है कि ब्लॉग्स पर होने वाली चर्चा-विमर्श में गंभीरता व परिमार्जन का अवकाश अधिक नज़र आता है। इसके ठीक विपरीत फेसबुक पर 5000 तक की मित्र संख्या निर्धारित होने के कारण 90 फीसदी मित्र तो वे होते हैं जिनकी कोई साहित्यिक अभिरुचि होती ही नहीं है। सिर्फ मित्र-धर्म निभाने के लिए वे पोस्ट को 'लाइक' करते हैं या 'क्या खूब', 'बहुत सुंदर', 'उम्दा', 'क्या बात', 'लाजवाब', बेहतरीन' जैसे रटे-रटाए जुमले टिप्पणी के रूप में लिख देते हैं। इन लाइक्स और कमेंट्स के आधार पर अगर कोई रचनाकार अपनी रचना की गुणवत्ता का अंदाज़ा लगाने का प्रयास करेगा तो वह निरी आत्ममुग्धता से अधिक कुछ भी नहीं होगा। फेसबुक अब ऐसा महासागर बन चुका है जहां मोती ढूंढने के लिए महारत चाहिए। अधिक से अधिक लाइक्स और कमेंट्स पाने के चक्कर में फेसबुक पर स्थिति अमूमन यही है कि एक-दूसरे की तारीफ़ के लेन-देन पर ही यहां का 95 प्रतिशत कारोबार चलता है। ऐसे में कोई स्वयं को आत्ममुग्धता का शिकार होने से बचा सके वही बड़ी बात है। विशेष रूप से महिला रचनाकारों की सामान्य पोस्ट पर भी लाइक्स और कमेंट्स की जो झड़ी दिखाई देती है उससे रचनाओं की स्तरीयता व पाठक की गंभीरता दोनों पर ही प्रश्नचिन्ह खड़े होते हैं। फेसबुक व ब्लॉग्स पर विद्यमान हिंदी ग़ज़लकारों में प्रिंट मीडिया के स्थापित ग़ज़लकारों से लेकर बिल्कुल नई पीढ़ी के युवा ग़ज़लकार तक, हजारों की संख्या में मौजूद हैं। आज जब हिंदी ग़ज़ल समकालीन युग में अपने पूरे तेवर, प्रासंगिकता, टटकेपन और मज़बूती से न सिर्फ अपने समय के प्रश्नों से टकरा रही है बल्कि दिनों-दिन इसका फलक इतना विस्तृत व वृहत्तर होता जा रहा है कि मुक्त छंद कविता के कई बड़े हिमायती इसके महत्व व बढ़ती लोकप्रियता को दबी ज़बान से ही सही स्वीकारने के लिए मजबूर हो गए हैं, ब्लॉग्स व फेसबुक पर लिखी जा रहीं ग़ज़लें भी पाठक को सिर्फ आनंदित नहीं करतीं बल्कि उसके मन को बेचैन और विचलित करती हैं। ये ग़ज़लें शोषित, उत्पीड़ित भारतीय जनता के दु:ख-दर्द को वाचा देती हैं। अमीरी-ग़रीबी के फ़र्क, संप्रदायवाद, उपभोक्तावाद, भाषावाद, महानगरवाद और नगरवाद, अंधविश्वास, रूढ़ियां, उद्योगवाद, व्यापारवाद, धार्मिक कट्टरता, संप्रदायवाद, रिश्वत, सरकारी शोषण, भ्रष्टाचार को खुलेआम बेनकाब करती हैं। आम आदमी की लाचारी, घुटन, अजनबीपन, महानगरीय त्रासदी, असंतोष, आक्रोश, अपनों की अपनों से जद्दोजहद व तथाकथित उजालों के पीछे के सच भी इनमें दृष्टिगोचर होते हैं।

कोई पक्का इरादा क्यों, नहीं है? तुझे खुद पर भरोसा क्यों नहीं है?
बहुत संतुष्ट है हालात से क्यों तेरे भीतर भी गुस्सा क्यों नहीं है?
कमलेश भट्ट कमल

इन उजालों का नाम होता है- जिस्म तो तीलियों के जलते हैं
अनिरुद्ध सिन्हा

उपरोक्त शे'र सधी हुई भाषा में दूर तक मार करते हैं। यहां शब्दों से खेलने का, चमत्कार उत्पन्न करने का अथवा विशेष कला-कौशल साधने का प्रयास होता नहीं दिखाई देता बल्कि एक संतुलित तरीके से अपने समय के सच को कहा गया है ।

हिंदी ग़ज़ल में मिट्टी की खुशबू और पसीने की महक है। औद्योगीकरण, बाज़ारवाद, व्यापारवाद आदि के अंधाधुंध पांव पसारने के बाद भी भारत आज भी गांवों में बसता है। आज भी भारत की जनसंख्या का एक बड़ा प्रतिशत कृषि से जुड़ा हुआ है व साथ ही कृषि क्षेत्र से जुड़े हुए विभिन्न उत्पादों एवं लघु रोज़गारों पर निर्भर करता है। मगर भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के इस दौर में जहां सारे नियम, कानून ताक पर रख दिए गए हैं, हर व्यक्ति एक व्यक्ति नहीं बल्कि एक कमोडिटी के रूप में देखा जाता है। बाज़ारवाद की इस दौड़ में किसान, मध्यमवर्गीय व सर्वहारा वर्ग नित नई परेशानियों से जूझता हुआ नज़र आता है। अपनी अदम्य लालसा और जिजीविषा के बलबूते पर हर संभव कोशिश करके दिन ढले ज़िंदगी के दोनों सिरों को जोड़ने का प्रयास करता नज़र आता है और इस प्रयास में हर पल न जाने कितनी ही सम-विषम परिस्थितियों का सामना करता है। रोज़ी-रोटी की तलाश में विस्थापन का दर्द झेलता है। आज जब बाज़ारवाद हमारे घर-आंगन तक प्रवेश कर चुका है, एक सामान्य व्यक्ति नींद में भी अपने सपनों की तलाश करता नज़र आता है।

जहां मन हो बिछा लेते हैं, बिस्तर लेके चलते हैं
वो घर-परिवार, बर्तन, नून-शक्कर लेके चलते है
ओमप्रकाश यती

व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के चलते, विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक कारणों के चलते एक बड़ा वर्ग गांवों से शहरों की ओर भाग रहा है। शहर में आकर रात-दिन मरते-खटते, पांव रखने की ज़मीन भले ही नसीब हो जाए या सफलता के कितने ही पायदान आदमी चढ़ ले पर ताउम्र गांव छोड़ने का दंश तो खाता ही रहता है। आदमी का घर-गांव उसकी रग-रग में समा जाता है-

शहर में चर्चे हैं तेरे रौब-रुतबे के
मगर तेरे बचपन की कहानी है अभी तक गांव में
द्विजेंद्र द्विज

विकास, प्रगति, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद के नाम पर जो खेल-खेले जा रहे हैं, उनके विरोध में अपना मुखर आक्रोश दर्ज कराती ग़ज़लों की फेसबुक व ब्लॉग्स पर उपस्थिति सुखद है।

उनके ही हाथों से देखो बिक रहा हिंदोस्तां है
पहन रखा जिन्होंने तन पे खद्दर, गौर कर गौतम राजरिशी

ब्लॉग्स व फेसबुक के माध्यम से अपना स्वर मुखरित करने वाले ये ग़ज़लकार अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अपने समय के साथ बार-बार टकराते हैं। प्रवृत्त विचारधाराओं के प्रति अपनी सहमति-असहमति दर्ज कराते हुए पक्ष या विपक्ष में स्वयं को खड़ा करते हैं। समाज की जटिलताओं को समझ कर उनका विश्लेषण करने की कुव्वत रखते हैं। अपनी-अपनी ज़मीन पर खड़े ये ग़ज़लकार अपने-अपने अनुभवों, भाषा, शिल्प, बिंब विधान व कथ्य-भंगिमा के माध्यम से मुफ़लिसी, बेरोज़गारी, महंगाई, शोषण, दमन, उत्पीड़न के विरोध में एक नई ज़मीन रचते नज़र आते हैं। उनकी ग़ज़लों में एक संवेदनशील आम आदमी की तक़लीफ़, कशमकश, कई अमानवीय घटनाएं घट रही परिवर्तनकारी घटनाओं की गूंज-अनुगूंज साफ़-साफ़ सुनाई देती है।

मगर फेसबुक व ब्लॉग्स पर उपस्थित इन ग़ज़लकारों के इस उजले पक्ष को देखकर निश्चिंत या आश्वस्त हो जाने की कतई आवश्यकता नहीं है। फेसबुक पर इन दिनों ग़ज़लकारों की बाढ़-सी आई हुई है। इस बाढ़ में सीप-मोती के साथ-साथ कूड़ा-कचरा भी शामिल है। सिर्फ क़ाफ़िया भर मिला लेने को ग़ज़ल कहने वाले अनगढ़ ग़ज़लकारों की भीड़ है। फेसबुक

पर चोरी और उठांतरी की घटनाएं भी आम हैं। पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में से ग़ज़लों को उठाकर अपने नाम से प्रस्तुत करने वाले रचनाकार भी ढेरों हैं। ऐसे में रचनाओं की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगता है। यहां आज भी हीर-रांझा, लैला-मजनूं के इश्क को बयां करती, प्रेमिका के अप्रतिम सौंदर्य का वर्णन करती, विरह, मिलन, जुल्मों-सितम, बेवफ़ाई, शिकवे-शिकायत इत्यादि भावों से लदी हुई ग़ज़लों की भरमार है। ऐसे ग़ज़लकारों की भी भरमार है जो सिर्फ देवनागरी लिपि में लिखकर उर्दू-फ़ारसी शब्दों से भरपूर अपनी ग़ज़लों को हिंदी ग़ज़ल के नाम पर पाठकों को परोस रहे हैं क्योंकि फेसबुक पर हिंदी पाठकों का वर्ग बहुत बड़ा है। कमोबेश हर तरफ़ बाढ़ का पानी चढ़ा हुआ है और ये हरहराता वेग समकालीन हिंदी ग़ज़ल को क्या दिशा देगा, यह कह पाना मुश्किल है।

फेसबुक पर प्रिंट मीडिया व कवि मंचों के सभी नामी-गिरामी, प्रतिष्ठित व स्थापित ग़ज़लकार मौजूद हैं। इस माध्यम के द्वारा हिंदी ग़ज़ल का कुछ भला करने की उम्मीद अगर किसी से की जा सकती है तो वो हैं ये स्थापित ग़ज़लकार। हिंदी ग़ज़ल को आगे ले जाने का मोर्चा संभाले हुए इन सभी रचनाकारों को अब फेसबुक पर भी अपनी ही ग़ज़लें पोस्ट करके वाह-वाही लूटने के मोह से बाहर आना चाहिए। कुछ मंचीय ग़ज़लकार जिन्होंने प्रिंट मीडिया में भी बहुत अच्छा कार्य किया है वे भी यहां अपने ही कवि-सम्मेलनों के वीडियो और फोटो डाउनलोड करके आत्ममुग्धता का शिकार हो रहे हैं। हिंदी ग़ज़ल के प्रति अपनी चिंता, लगन और प्रतिबद्धता का परिचय देते हुए इन मंजे हुए ग़ज़लकारों को अब अपनी वॉल पर हिंदी ग़ज़ल की भाषा, शिल्प, कथ्य, बिंब, मुहावरे, मिज़ाज और हिंदी ग़ज़ल की राह में खड़ी चुनौतियों पर बात करनी चाहिए ताकि नई पीढ़ी के कच्चे व अनगढ़ ग़ज़लकारों को एक सही दिशा मिल सके। प्रिंट मीडिया में 'ग़ज़ल के बहाने' पत्रिका के माध्यम से हिंदी ग़ज़ल की सेवा करने के लिए कटिबद्ध ग़ज़लगो दरवेश भारती फेसबुक पर भी इसी कार्य को बड़ी शिद्दत से निभा रहे हैं। यहां भी वे अपनी वॉल पर नवोदित ग़ज़लकारों के द्वारा पोस्ट की गई ग़ज़लों को पढ़कर विचार-विमर्श करते हैं। कमियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अरूज के नियमों की जानकारी देते हैं व ग़ज़लकारों को कुछ नया सीखने को प्रेरित करते हैं।

फेसबुक व ब्लॉग्स के माध्यम से कई प्रवासी ग़ज़लकार भी हिंदी ग़ज़ल की यात्रा में अपना योगदान दे रहे हैं जिनमें प्राण शर्मा, महावीर शर्मा, पूर्णिमा वर्मन, तेजेंद्र शर्मा, श्रद्धा जैन, चांद हदियाबादी इत्यादि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त ध्रुव गुप्त, अनिरुद्ध सिन्हा, नरहरि अमरोहवी, हरेराम समीप, ओमप्रकाश यती, अशोक आलोक, डी एम मिश्रा, नासिर काज़मी, विमलेंदु सागर, दिनेश कुमार, उदय प्रताप सिंग, सीता सागर, नीतिश जोशी, सुशील साहिल, मालिनी गौतम, सिया सचदेव, चांदनी पांडे, इंदिरा शबनम, 'इंदु', प्राची राज, संध्या सिंह, कमलेश भट्ट कमल, अंकित जोषी, स्वप्निल तिवारी, संजय कुमार कुंदन, गौतम राजरिशी, श्याम सखा श्याम, शार्दूल राठौड़, तारेक कमल, कविता किरण, देव निरंजन, केशव पाठक सृजन, रमेश राज, मिथिलेश गहमरी, अशोक अवस्थी, अमित हर्ष, शिव, संजय कुमार शर्मा, राम शिरोमणि पाठक दीपक, नीलम, दीपक गुप्ता, सत्यपाल खयाल, संजय कुमार शर्मा राज, महेश कटारे शुभम, दीक्षित दनकौरी, निर्मल नदीम, पांडे शैलेंद्र, मीनाक्षी पंत, पल्लवी त्रिवेदी, संजीव आर्य, दीप शर्मा, अनुराधा जसरौटिया, किशोर सोनी कौशल, अंसार कंबरी, पुष्पेंद्र यादव, अशोक अंजुम, सरिता शर्मा, नीरज शर्मा, देवेंद्र आर्य, वशिष्ठ अनूप, राम अवतार बरैना, मलिंद्र कुमार, तनु थदानी, जितेंद्र कुमार सोनी, सुरेंद्र सिंग भाटिया, ज्ञान प्रकाश विवेक, तरुणा, राजेश रेड्डी, वात्स्यायन, पंकज कुमार मिश्र, ब्रजेंद्र शर्मा, सुरेंद्र कुमार सैनी, प्रदीप कांत, शशांक गर्ग, दिनेश त्रिपाठी, प्रखर मालवीय कान्हा, वीनस केसरी, द्विजेंद्र द्विज, बकुल देव, रवि प्रताप सिंह, पवन कुमार, सोनरूपा विशाल, आर. डी. एन. श्रीवास्तव, विकास शर्मा, केतन कमाल, सतीश शुक्ला, ऋषि अग्रवाल, नितिन मनेरिया, संजय तिवारी, राजेंद्र स्वर्णकार, सौरभ शेखर, मयंक अवस्थी, तुफ़ैल चतुर्वेदी, अजय अज्ञात, नूर मुहम्मद नूर, सुरेंद्र चतुर्वेदी, अशोक रावत, नवीन चतुर्वेदी, अरुण मिश्र, बी. आर. विपल्वी, रॉक शायर इत्यादि अपनी कलम के ज़ोर से समकालीन हिंदी ग़ज़ल को एक नई दिशा देने के लिए प्रयासरत हैं। ब्लॉग्स व फेसबुक पर उपस्थित ग़ज़लकारों की यह सूची पूरी है, ऐसा कतई नहीं कहा जा सकता। ग़ज़ल को शौक और शग़ल समझने वाले या ग़ज़ल को उपासना समझने वाले सभी तरह के ग़ज़लकार यहां मौजूद हैं।...ग़ज़लकारों की इस सूची में अपने अनोखे अंदाज़, तेवर और कहन से कौन-कौन अपना नाम साहित्य के पन्नों में दर्ज़ करा सकेगा या कौन गुमनामी के अंधेरों में खो जाएगा, इसका निर्णय तो आने वाला समय ही करेगा। ❑

संपर्क : 574, मंगल-ज्योत सोसाइटी, संतरामपुर, जिला-महीसागर-389260 (गुजरात)

सोशल मीडिया की साहित्य...

पृष्ठ 38 से आगे

का समुदाय पाठक नहीं होने का रोना रो रहा है वहीं पाठकों का एक बहुत बड़ा वर्ग पठन-सामग्री नहीं मिल पाने पर आगबबूला हो रहा है। साथ ही, पाठकों का एक बड़ा वर्ग तो वह भी है जिसने अपने स्कूली किताबों से अधिक हिंदी साहित्य को जाना भी नहीं। वह प्रतिलिपि पर प्रकाशित साहित्य की दुनिया देख अचंभित है और बार-बार पूछ रहा है कि मैं इतनी अच्छी कहानियां कहां से लाती हूं? क्या आज भी लोग इतना बढ़िया लिख रहे हैं?

फिर से वही विरोधाभास। प्रतिलिपि ने साहित्य के लिए जितनी संख्या में पाठक-वर्ग बनाए हैं और जो रोज बढ़ता ही जा रहा है, उसे देख-जानकर यही कहा जा सकता है कि यह हिंदी-साहित्य के बूम का समय है जो निश्चित रूप से साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में दर्ज होगा।

व्हाट्सअप, यूट्यूब और ट्वीटर पर भी अपनी तरह से साहित्य का प्रचार-प्रसार हो रहा है। व्हाट्सअप ग्रुप में साहित्यकार एक-दूसरे की रचनाएं पढ़ उनकी खूबियों-ख़ामियों पर चर्चा कर स्वयं को मांज रहे हैं तो दूसरी ओर ट्वीटर पर पाठकगण अपने प्रिय लेखकों के विचार पढ़ प्रत्युत्तर भी दे रहे हैं। यूट्यूब पर भी कहानियों और कविताओं के कई ऑडियो-वीडियो तैयार हो रहे हैं जिन्हें देखने-सुनने वाले भी बहुतायत में हैं।

यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि सोशल मीडिया आज साहित्य के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ी भूमिका निभा रहा है जो निश्चित रूप से साहित्य और साहित्यकार दोनों के लिए समान रूप से लाभकारी। ❑

संपर्क : मकान नं. 8, टाइप-4, बटलर पैलेस कॉलोनी, जोटिलन रोड, लखनऊ-226011 (उ.प्र.)

इक्कीसवीं सदी में संवेदना, प्रगति और सेल्फ़ी

प्रौद्योगिक क्रांति के इस दौर में इंसान के पास हर किस्म की सुविधाएं हासिल हैं। वह मोबाइल से न केवल दूर बैठे किसी से बात कर सकता है बल्कि इंटरनेट के सहारे एक-दूसरे को लाइव बातचीत भी कर सकता है। विज्ञान की यह क्रांति इंसान को जरूरी सुविधा देने के लिए अभिहीत थी लेकिन इस सुविधा ने इंसान के भीतर मनोरंजन के भाव इतने जागृत कर दिए कि लोग इसकी चमत्कारिता की प्रभावोत्पादकता के अधीन हो गए। फेसबुक, ट्वीटर, लिंक्ड इन, तमाम वीडियो वेबसाइट्स और टीवी चैनलों ने मनोरंजन और ज्ञानरंजन के नाम पर लोगों के वक्त को घटा दिया है, चर्चा कर रहे हैं **सरोज कुमार शुक्ल**



व्यक्ति के जीवन में समय के साथ आगे बढ़ने और निरंतर प्रगति करने का अहसास सदा ही जुड़ा रहता है। यह किसी भी इंसान की सक्रियता और उसकी जीवन शक्ति की निरंतरता का प्रतीक है। इससे उसमें स्वयं के प्रति विश्वास उपजता है और आशा बंधती है कि हम ऐसे समाज के निर्माण में योगदान कर रहे हैं जो हमें पहले की चिंताओं और चुनौतियों से उबार सकेगा। ग़ौरतलब है कि बीसवीं सदी मानव इतिहास में अपनी अनेक उपलब्धियों के लिए याद की जाती है लेकिन उसकी एक त्रासदी यह भी है कि युद्ध की विभीषिका और तमाम तरह के भेदभाव ने धरती के एक बड़े मानव समुदाय को संत्रस्त करके रख दिया है। सुख-सुविधाओं की बढ़ोतरी हेतु तकनीकी विकास तो बहुत हुए लेकिन उसी के बरअक्स सामरिक और आर्थिक शक्ति का भी विकास कम नहीं हुआ जिसका असर समूची मानव जाति पर पड़ा। सामाजिक विषमता ही नहीं बल्कि वैश्विक विषमताएं बढ़ने लगीं। शक्तिशाली और कमज़ोर देश की क्षमताओं के मध्य अंतर और भी बढ़ते गए। विकास की होड़ में छोटे देश बड़े देशों के कर्ज़दार बनते गए। बड़े देशों का प्रभुत्व बढ़ता गया और इसी प्रभुत्ववाद के साथ-साथ मानव अधिकारों के उल्लंघन की घटनाएं बढ़ती गईं। इन घटनाओं ने देश के अंदर समुदायों के मध्य दूरियों को बढ़ाया और द्वेष की आग भड़काई। ग्पाज में अशांति फैली जिसका असर विभिन्न क्षेत्र की रचनात्मकताओं पर भी पड़ा। रचनात्मकता पर दुष्प्रभाव भी एक तरह से मानव अधिकार का हनन ही है क्योंकि इससे रचनाशीलता की मौलिकता प्रभावित होती है। किसी भी रचनाशीलता में समाज की चिंतना की जाती है।

इस बीच विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास भी उतनी ही तेज़ी से हुआ। इसकी पहुंच ब्रह्मांड में चहुंओर हुई। धरती का कोई भी कोना नहीं बचा जहां विज्ञान की पहुंच ना हो। इसी तरह नभ और जल की अधिकतम सीमाओं तक प्रौद्योगिकी की पहुंच हो चुकी है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बदौलत ही हम दूसरे ग्रहों पर भी पहुंचने में सफल हुए। अब तक हमने केवल चांद की उबड़-खाबड़ ज़मीन को देखा था लेकिन अब मंगल की लाल धरती और चट्टानों को भी देख लिया। वहां रेत के निशान की तस्वीरें ले लीं। अब पानी की सतह की तलाश में जुट गए। कोई अचरज नहीं कि विज्ञान अगर इसी तरह अपने कारनामे में सफल होता गया तो इंसान का बसेरा दूसरे ग्रहों पर हो सकेगा लेकिन विडंबना देखिए कि इंसान वस्तुगत दूरियों को घटाते हुए ग्रहों तक तो पहुंच गया लेकिन संवेदनात्मक नज़दीकियों मे दूरियां बढ़ती गईं। संवेदनात्मक रिश्ता का सीधा संबंध समाज के विभिन्न पहलू से है। सामाजिक तौर पर भावनात्मक पहल से है लेकिन जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी विकास हो रहे हैं हम 'स्व' यानी 'सेल्फ़' के अधीन होते जा रहे हैं। 'सेल्फ़ी' इसी प्रौद्योगिक क्रांति की देन है। हम सब सेल्फ़ी फ़ीवर के शिकार यानी आत्ममुग्ध होते गए। व्यक्ति के स्व या सेल्फ़ और सामाजिकता के बीच एक गहरा द्वंद्व शुरू हो गया। ज़ाहिर है इस द्वंद्व का शिकार समाज की प्रथम इकाई यानी व्यक्ति है जिसका दूरगामी प्रभाव समाज पर ही पड़ना अवश्यंभावी है। इंसान अपने ही हित और स्वार्थ की सिद्धि पाने की चेष्टा में जुट गया। एकदम आत्मलीन हो गया। सोच-विचार का केंद्र मनुष्य स्वयं ही होता गया। उसकी आंखों से एक बड़ा सत्य ओझल होता गया कि उसकी मनुष्यता नैसर्गिक ना होकर अर्जित है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य होने के गुणों को हमें अपने प्रयास के साथ अर्जित करना पड़ता है।

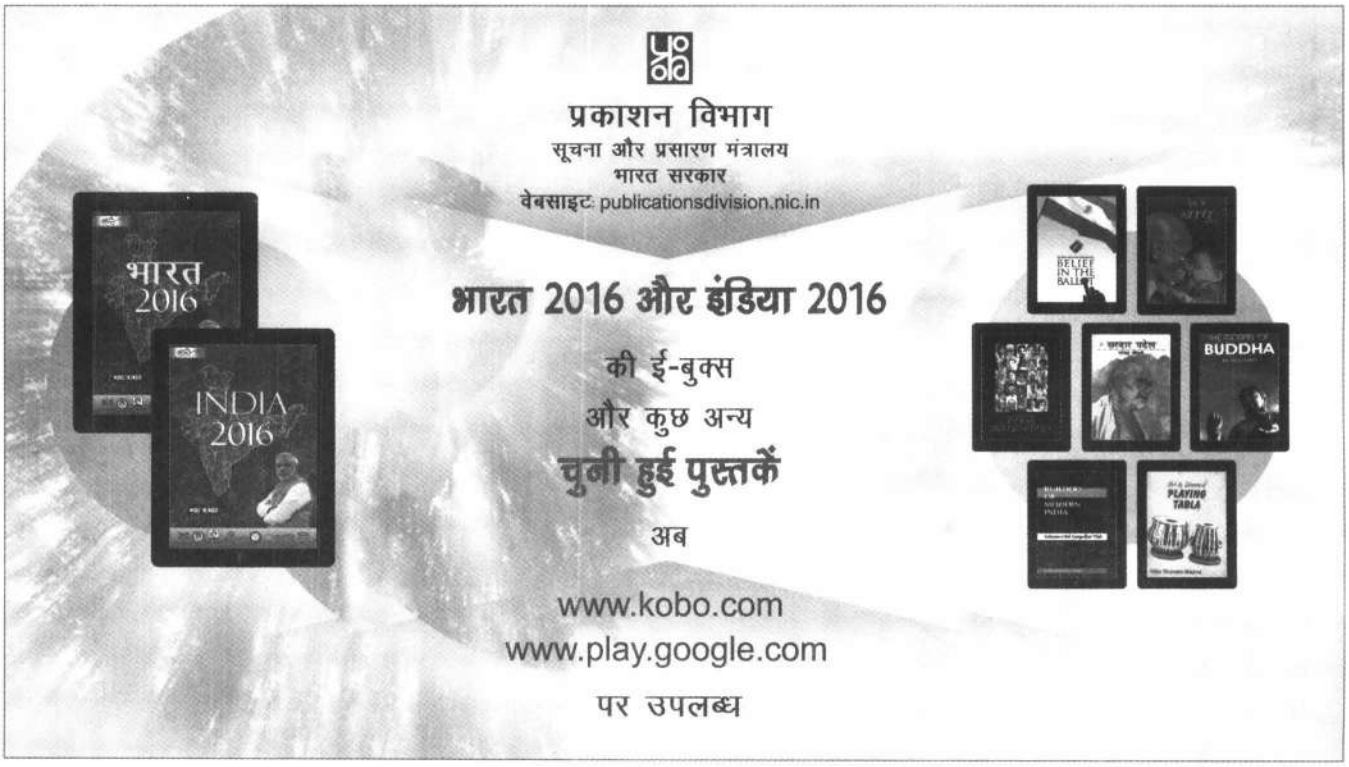
प्रौद्योगिक क्रांति के इस दौर में इंसान के पास हर किस्म की सुविधाएं हासिल हैं। वह मोबाइल से न केवल दूर बैठे किसी से बात कर सकता है बल्कि इंटरनेट के सहारे एक-दूसरे को लाइव बातचीत भी कर सकता है। विज्ञान की यह क्रांति इंसान को जरूरी सुविधा देने के लिए अभिहीत थी लेकिन इस सुविधा ने इंसान के भीतर मनोरंजन के भाव इतने जागृत कर दिए कि लोग इसकी चमत्कारिता की प्रभावोत्पादकता के अधीन हो गए। फेसबुक, ट्वीटर, लिंक्ड इन, तमाम वीडियो वेबसाइट्स और टीवी चैनलों ने मनोरंजन और ज्ञानरंजन के नाम पर लोगों के वक्त को घटा दिया है। कहने को यह सोशल साइंस हैं लेकिन उसके उपयोग में लोग इतने मशगूल हो गए हैं कि दूरस्थ से रिश्ता तो बना लेकिन निकटस्थ करीबी दो बोल को भी तरसते रह गए। सवाल उठना लाज़िमी है आख़िर यह कैसा सोशल सेंस है। नए-नए इलेक्ट्रॉनिक उपकरण और साज़ोसामान ने व्यक्ति में स्वयं की संपूर्णता और आत्मपर्याप्तता की भावना को बढ़ावा दिया है। साथ ही, उसे पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी महसूस करने का अवसर दिया है। नए-नए साज़ोसामान से

आत्मकेंद्रित होता हुआ वह व्यक्ति अपने को अलग-थलग रखकर एक सुरक्षित दायरा बनाकर अपने सारे सुख का साधन जुटाने लगा। बस यही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया। इंसान इतना सेल्फ़ीमुग्ध यानी खुदग़र्ज़ हो गया कि समाज के दायरे से ओझल होकर केवल अपने लिए ही जीने लगा। निश्चित तौर पर इसके पीछे पूंजीवाद, उपभोक्तावाद और भूमंडलीकरण के बढ़ते असर का बड़ा हाथ है। इन तीनों चलन की हवाओं ने इंसान के भीतर इस तरह के आत्मकेंद्रित नज़रिए को बढ़ावा दिया। व्यक्ति के सोचने-विचारने या कि सामाजिक संदर्भ में तर्क करने की चेष्टा को घटा दिया। बाज़ारवाद व्यक्ति की सोच में समा गया और व्यक्ति ने बिना दूरगामी नतीजे के बारे में सोचे-विचारे इसे बड़ी आसानी से आत्मसात भी कर लिया। आज हम यह भूल रहे हैं कि समाज से कटकर व्यक्ति का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसकी कल्पना करना असंभव बल्कि अकल्याणकारी सोच है।

यह तो वैज्ञानिक तौर पर भी सिद्ध हो चुका है कि जीवन का सूत्र परस्पर निर्भरता है। जीवन परिवेश के साथ विनिमय पर निर्भर करता है। हवा, पानी, अन्न, ऊष्मा सबकुछ तो हम इस परिवेश से ही हासिल करते हैं। ये ना हों तो जीना ही संभव नहीं। इसी तरह माता, पिता, अभिभावक, गुरु, मित्र आदि की सहायता और निर्देश के बिना हम भाषा, कौशल और ज्ञान कुछ भी नहीं पा सकते यानी हमारी मनुष्यता दूसरे मनुष्यों पर निर्भर है। वह पारस्परिकता पर ही आधारित है। इंसान होने का यही तकाज़ा है कि हम दूसरों को भी अपने ही जैसा देखें। इसीलिए कहा गया है- 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यिति स पश्यति' अर्थात् दूसरों के सुख-दुख, भाव-अभाव को अपने जैसा देखना ही वास्तविक देखना है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि जो खुद को अच्छा लगे वैसा व्यवहार दूसरों के साथ भी करना चाहिए। सेल्फ़ीमुग्धता किसी भी व्यक्ति में अंतर्मुखता को ही बढ़ावा देती है और अंतर्मुखता से सामाजिकता को बड़ा नुकसान होता है। सामाजिकता की सोच से आपसी द्वेष घटता है और लोगों के बीच भाईचारा की भावना बलवती होती है।

समाज के कल्याण के लिए खुद के साथ-साथ दूसरों के दुख के प्रति संवेदना और सहनशीलता की भावना जगाना ही एकमात्र रास्ता होना चाहिए। इसी रास्ते पर चलकर हम 'सर्वे भवंतु सुखिनः' की कामना सार्थक कर सकते हैं। इसी से मानव जाति के मूलभूत अधिकारों के प्रति संवेदनशील हुआ जा सकता है। उसके अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। वास्तव में समाज में आए दिन हो रहे मानव अधिकारों के हनन से अगर हम चिंतित हैं तो हमारे भीतर सामाजिक संवेदनाओं को भी जगाना ही होगा। मानव अधिकार का अभीष्ट दूसरों के स्वाभाविक जीने और विकास करने के अधिकार से है। इसमें हम जहां भी बाधा पहुंचाते हैं, मानव अधिकार का हनन करना शुरू कर देते हैं। मानव अधिकारों की हानि जहां भी होती है, जहां भी उस पर कुठाराघात होता है वहां मानवीय संवेदना की कमी स्पष्ट रूप से झलकती है। हमारी संवेदना जब मंद पड़ जाती है, हम मानुष भाव को भूलकर हैवान हो जाते हैं। तब हिंसा फैलती है, अशांति होती है, जन-धन समेत पूरे समाज की हानि होती है। समाज में कुछ लोगों में वर्चस्ववाद की ललक होती है, वह 'जीओ और जीने दो' की भावना में यकीन करना अपनी हार के समान समझते हैं लेकिन वह भूल जाते हैं कि समाज में वैमन्यस्ता की शुरुआत इसी वर्चस्ववादी भावना से होती है और यह भी एक प्रकार का मानवाधिकार का हनन है। अतः हमारे लिए जरूरी है कि हम सेल्फ़ीमोह के पाश से निकलें और दूसरों के लिए ख़ासतौर पर स्त्रियों, बेसहारा लोगों, पिछड़ों और ग़रीबों, कमज़ोरों के प्रति अधिकाधिक संवेदनशील होते हुए उनके बेहतर भविष्य के लिए संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करें। यही भावना वास्तविक तौर पर मानवाधिकारों की सुरक्षा करती है। इसमें हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भी भरपूर सहायता लें। उसे केवल स्व सुविधा का हेतु ना समझें। आज हमें स्व या सेल्फ़ से बाहर निकलकर पूरे समाज की सेल्फ़ी लेने की जरूरत है। ❑

संपर्क : 521-ए, टाइप-4, सेक्टर-3, आर.के. पुरम, नई दिल्ली-110022



वज़न

मोहनदास नैमिशराय



डाकिया हैरान था और परेशान भी। हैरान इसलिए कि गांव में रहने वाले के पास इतनी सारी डाक क्यों आती है? परेशान इसलिए कि कभी-कभी चिट्ठियों के साथ किताबें और पत्रिकाएं इतनी अधिक आ जातीं कि डाक के थैले का वज़न बढ़ जाता। वज़न बढ़ता तो थोड़ी बहुत दिक्कत तो होती ही। हालांकि डाकिया ने डाक के वज़न को कभी महसूस न किया था। हंसी-हंसी वह सब ढोते हुए तथा एक गांव से दूसरे गांव वह डाक बांटता। वैसे अधिक उम्र के लोग जरूर टोक देते।

''डाक बाबू कब तक चिट्ठियों-पत्रियों का बोझ लिए घूमते रहोगे ?''

जवाब में उनके मुंह से कोई शब्द नहीं निकल पाता। वह सिर्फ हंस देते और साइकिल के पैडल पर पांव का दबाव बनाते हुए आगे निकल जाते। गांव-गांव में उन्हें डाक बाबू के नाम से ही जाना जाता था। बड़े-बूढ़े हों या फिर बच्चे सभी उनकी साइकिल की घंटी की आवाज़ सुनकर समझ जाते थे कि गांव में डाक बाबू आ गया है। वैसे भी डाक बाबू रिटायरमेंट के नज़दीक थे। दस बरस पहले तक वे शहर में डाक बांटा करते थे। बाद में उन्हें गांव की डाक बांटने की ज़िम्मेदारी दे दी गई जिसे उन्होंने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। वे स्वयं भी गांव में ही रहते थे। नाम था उनका राजनारायण। डाक खाने में उन्हें सिर्फ नारायण नाम से साथी कर्मचारी पुकारते थे। यह बात अलग थी कि कोई उन्हें चाचा कहकर पुकारता तो कोई ताऊ कह देता। उम्र के हिसाब से रिश्ते बदलते। उन रिश्तों की पहचान भी बनती। तब डाकखाना के कर्मचारी किसी परिवार के सदस्यों में परिवर्तित हो जाते।

आज जैसे ही वह शहर के मुख्य डाक खाना आए, सबसे पहले उन्होंने मेज़ पर पड़े रजिस्टर में अपने नाम के आगे हस्ताक्षर किए। फिर घड़े से गिलास में पानी लेकर पिया। गर्मी का मौसम था। छत पर कड़ी के सहारे लटका पंखा खरड़-खरड़ की आवाज़ें कर चल रहा था। उन्होंने एक पल के लिए आवाज़ करते हुए पंखे की ओर देखा। तत्पश्चात ही दीवार के सहारे बने लकड़ी के ख़ानों के सामने कुर्सी खींचकर बैठ गए और अपने क्षेत्र की डाक छांटने लगे। पहला ही पत्र भानु के नाम से था। उसे पढ़कर अच्छा लगा। फिर दूसरा पत्र देखा तो वह भी उसी के नाम से था। अनायास ही वह बुदबुदा उठे, ''सारी डाक एक तरफ़ और भानु की चिट्ठी-पत्री दूसरी तरफ़। पलड़ा भानु का ही भारी होगा।'' नज़दीक ही डाक छंटाई करते हुए साथी ने सुना तो पूछ बैठा,

''क्या हुआ नारायण ?''

सहज भाव से उनका स्वर उभरा, ''कुछ नहीं, छंटाई करते हुए भानु की दो चिट्ठियां आ गईं।'' कहकर वे पुनः अपने कार्य में लग गए। थोड़ी देर बाद चायवाला चाय के दो गिलास अगल-बग़ल रखकर चला गया। छंटाई का कार्य करते-करते राजनारायण गिलास से चाय पीते जाते थे। तभी बग़ल में बैठे हुए उसी साथी ने कहा, ''चाचा चाय पी लो पहले आराम से। यह सब तो होता रहेगा।'' कहने के बाद वही साथी पत्रों तथा लिफ़ाफ़ों के बण्डल को एक तरफ रख फुर्सत से चाय पीने लगा। राजनारायण ने उसे चाय पीते हुए देखा तो गिलास कीशोश चाय दो-तीन घूंट में समाप्त कर वे बोले, ''ले भई चाय पीली मैंने तो।''

गिलास एक तरफ़ रख वे काम पर लग गए। थोड़ी देर बाद उन्हें फिर दो पत्र भानु के नाम से मिले। एक पत्र बंबई से आया था तो दूसरा बरेली से। लगभग आधा घंटे बाद एक लिफ़ाफ़ा उन्होंने देखा। अशोक की मोहरवाला बड़े साइज़ का पीले रंग का लिफ़ाफ़ा था। ध्यान से पढ़ा। वह राष्ट्रपति भवन से था। उन्होंने दोबारा भानु का नाम और गांव का पता पढ़ा। उन्हें विश्वास ही न हुआ था कि गांव में रहने वाले भानु के नाम भी राष्ट्रपति भवन से पत्र आ सकता है। भानु प्रताप समीर, गांव सुखाड़ा, तहसील जानसठ जिला मुज़फ़्फ़र नगर, उत्तर प्रदेश। सारा पता स्पष्ट शब्दों में टाइप किया हुआ था। उसने भानु के चार-पांच पत्र एक ख़ाने में रख दिए और सुस्ताने के लिए अपनी दोनों टांगें फैला दी। छत से झूलता पंखा वैसे ही खरड़-खरड़ आवाज़ करते हुए चल रहा था। परिवेश में ताप था। लंच तक उन्हें आठ-दस पत्र और मिले जो पास के गांव के थे।

गांव सुखाड़ा उनके गांव से दस किलोमीटर था। फिर अगला गांव किशनपुर जो दो किलोमीटर दक्षिण दिशा में था। उसके बाद रघुपुर, वह एक किलोमीटर आगे था। सुबह सात बजे नाश्ता कर उन्होंने डाक का थैला हैंडल पर लटकाया और साइकिल को स्टेंड से उतारकर आगे बढ़ाया। लगभग आधा घंटे में वे सुखाड़ा गांव के नज़दीक पहुंच गए। भानु प्रताप का घर गांव शुरू होते ही था। नज़दीक पहुंचकर उन्होंने पहले साइकिल की घंटी बजाई। फिर आवाज़ दी,

''भानु..., भानु...।''

दो-तीन बार पुकारने पर जैसे ही भानु प्रताप समीर जल्दी में कमीज़ पहनते हुए बाहर आए, उन्हें देख झट से वह बोले, ''तूने तो कमाल ही कर दिया भानु।''

सुनकर पूछा उन्होंने,

''क्यों क्या हो गया चाचाजी ?''

सुनकर उन्हें अच्छा लगा। गद्‌गद होते हुए राजनारायण पुनः बोले, ''अरे तूने तो कमाल ही कर दिया। न जाने कहां-कहां अपनी कलम से दस्तक दे दी।''

इस बीच भानु कुछ पूछता, उन्होंने राष्ट्रपति भवन से आया लिफ़ाफ़ा आगे करते हुए कहा, ''राष्ट्रपति भवन से तेरे नाम पत्र आया है।''

सुनकर जैसे खुशी का फौव्वारा भानु के भीतर फूटा था। उसका स्वर उभरा, ''ठहरो चाचाजी पहले मुंह मीठा तो कर लो...।'' कहते और लपकते हुए भानु भीतर गए और पलक झपकते ही एक प्लेट में गुड़ और गिलास में मटके का ठंडा पानी ले आए।''

''चाचाजी पहले मिठाई खाओ, पानी पियो। फिर राष्ट्रपति भवन से आया हुआ लिफ़ाफ़ा मुझे देना।''

राजनारायण ने जल्दी-जल्दी गुड़ की दो-तीन डली को मुंह में डाली। फिर पानी पिया। तत्पश्चात् लिफ़ाफ़े के साथ शेष डाक भी भानु के हाथ में

दी। भानु ने सावधानी से राष्ट्रपति भवन से आए लिफ़ाफ़े को खोला। अंदर टाइप किया हुआ और राष्ट्रपति के द्वारा हस्ताक्षरित पत्र था जिसमें स्वयं राष्ट्रपति ने एक सप्ताह पूर्व छपे आलेख पर बधाई दी थी। आलेख का मज़मून था, ''राष्ट्रपति गांव में क्यों नहीं जाते हैं ?''

साथ में छपे हुए आलेख की फोटो कापी भी थी जिसे भानु ने डाक बाबू को दे दिया था यह कहते हुए कि चाचाजी आप भी पढ़ना। उसका यह आलेख पीटीआई की हिंदी फीचर सेवा के तहत कई अख़बारों में छपा था। इसी बारे में दो-तीन साथियों के पत्र भी आए थे।

घर पहुंचने से पहले राजनारायण ने साइकिल रोककर पेड़ की छांव में भानु का वह आलेख तसल्ली से पढ़ा था। उन्हें अच्छा लगा। अगले दिन समय पर वह डाक खाने पहुंच गए। पहले पोस्ट मास्टर के कमरे में गए और उन्हें आलेख का मज़मून पढ़कर सुनाया। फिर साथियों के बीच आ गए। वहां घड़े से लेकर पानी पिया। तब तक चाय भी आ गई थी। उन्होंने दस मिनट और इंतज़ार की। इसलिए कि जो कर्मचारी नहीं आए थे, वे भी आ जाएं। उन्होंने आलेख पढ़ा जिसे सभी ने सुना। आलेख सुनने के बाद जैसे उन्होंने एक-एक कर समीक्षा की। पहला बोला,

''भला राष्ट्रपति भी कभी गांव जाते हैं ?''

सुनकर तपाक से राजनारायण ने जवाब दिया, ''क्यों नहीं जाते?''

पलभर वह ठहरे फिर बोले, ''अगर नहीं जाते तो जाना चाहिए।''

उनकी बात पूरी होते-होते दो-तीन हंसे भी। उन्हीं में से दूसरा बोला, ''लगता है नारायण, तू सठिया गया है। अरे तुझे पता नहीं राष्ट्रपति तो राजा होवै है राजा।'' तभी राजनारायण के मुंह से निकला,

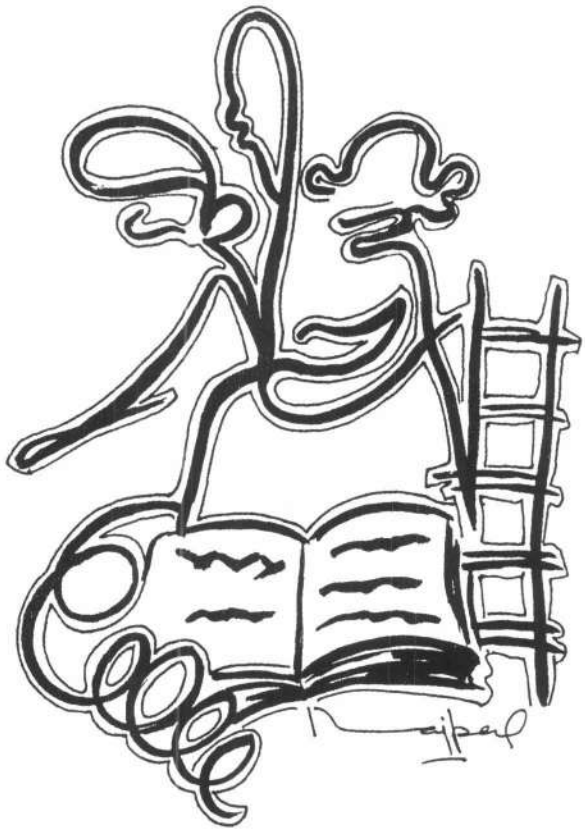
''तो क्या हुआ ?''

इस बार तीसरा कर्मचारी बोला, ''लो सुनो इसकी बात।''

राजनारायण ने फिर तर्क किया, ''अच्छा एक बात बतलाओ। राजा क्या आदमी नहीं होता ?''

वहीं बैठा चौथा कर्मचारी, जो अब तक चुप था, बोला, ''होता है आदमी लेकिन ख़ास आदमी, ख़ास में भी ख़ासमख़ास।'' कहकर उसने बारी-बारी से चारों की तरफ़ देखा फिर कहा, ''और वही ख़ासमख़ास आदमी आम आदमी की परछाई से भी दूर रहवै है।''

राजनारायण ऐसे ही गांव-गांव जाकर बदस्तूर डाक बांटते रहे। मौसम बदलते रहे। गर्मी में वे तपते, सर्दी में ठिठुरते और बरसात में भीगते पर उन से विचलित हुए बिना उनका डाक बांटने का कार्य बदस्तूर जारी रहा। इस बीच कई बार वे भानु के गांव भी गए। उनकी डाक बढ़ती ही जा रही थी।



राजनारायण को यह बात हज़्म नहीं हो रही थी वह अभी भी अपनी बात पर कायम थे। वह अपनी बात मज़बूती से रखते हुए बोले, ''ठीक है ठीक है, भाई सुगन चंद पर ज़माना बदल रहा है। राष्ट्रपति ख़ासमख़ास हैं। इसलिए कि उनका पद ही ऐसा है। पर हमारे काबिल लेखक भानु ने अपने आलेख में महत्वपूर्ण बात तो उठाई है।''

अब तक उनकी बहस में पांचवें ने भी हिस्सेदारी निभाई, ''देख चाचा नारायण के सुझाव में तो दम है। उनका तर्क अच्छा ही है पर ऐसा हो तब ना।''

उसकी बात सुनकर सभी ने उसकी तरफ़ देखा। तत्पश्चात राजनारायण बोले, ''ऐसा होगा एक-ना-एक दिन।''

सुनकर सभी ने राजनारायण की ओर देखा। जो बहस में शामिल नहीं थे, वे भी उसके पास आ गए थे। कभी वे राजनारायण की ओर तो कभी एक-दूसरे की तरफ़ देखने लगे थे। ज़ोरदार बात कही थी राजनारायण ने। उन सभी के भीतर भी तेज़ी के साथ यही सवाल उभरा था। आख़िर राष्ट्रपति किसी गांव में क्यों नहीं जा सकते ? बहस समाप्त हो गई। राजनारायण ने जैसे निर्णय दे दिया था। वह निर्णय था समय के बदलाव का। संकेत भी था सामाजिक परिवर्तन का।

राजनारायण ऐसे ही गांव-गांव जाकर बदस्तूर डाक बांटते रहे। मौसम बदलते रहे। गर्मी में वे तपते, सर्दी में ठिठुरते और बरसात में भीगते पर उन से विचलित हुए बिना उनका डाक बांटने का कार्य बदस्तूर जारी रहा। इस बीच कई बार वे भानु के गांव भी गए। उनकी डाक बढ़ती ही जा रही थी। एक-दो बार डाक खाने में साथियों ने भी पूछा, ''कब आ रहे हैं तुम्हारे राष्ट्रपति गांव में?''

उनकी बात सुनकर राजनारायण इतना ही कहते, ''समय आने पर जरूर गांव में आएंगे।'' फिर कोई पूछता,

''पर समय कब आएगा ?''

वे तुरंत उत्तर दे देते, ''इंतजार करो।''

वे कह तो देते, पर उन्हें स्वयं भी इंतज़ार रहती। उनके भीतर बेचैनी उभरने लगती और वह सचमुच राष्ट्रपति भवन से आने वाले लिफ़ाफ़े की इंतज़ार करते। पहले सप्ताह बीते, फिर पखवाड़े और अंत में माह। इस दौरान न जाने क्यों उनकी निगाहें घर की दीवार पर लटके कैलेंडर पर चली जाती। आख़िर एक दिन वही अशोक की मोहरवाला पीला लिफ़ाफ़ा आ ही गया। जैसे लिफ़ाफ़ा देखकर मज़मून भांप लिया था उन्होंने। उसमें वही था जो वह चाहते थे। बदलता समय भी यही चाहता था। ❑

संपर्क : बी-जी 5 ए/30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

हज़रत अली

प्रेमचंद

'हज़रत अली' पर प्रेमचंद का लिखा यह लेख कानपुर से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'प्रभा' के जुलाई, 1923 में प्रकाशित हुआ था। यह वह समय था जब प्रेमचंद इस्लाम का गहराई से अध्ययन कर रहे थे और उन्होंने तभी 'कर्बला' नामक नाटक लिखा था। 'इस्लामी सभ्यता' नामक लेख में उन्होंने इस्लाम की अच्छाइयों को उजागर किया था, जिसे खोजकर मैंने प्रकाशित करवाया था। प्रेमचंद को हज़रत अली का चरित्र बेहद आकर्षक लगता था क्योंकि वे साहित्यप्रेमी ही नहीं, स्वयं अरबी भाषा के अच्छे कवि भी थे। वे सच्चरित्र, न्यायशील और मानवीय थे। वे विद्वान, पराक्रमी, नीतिज्ञ और विनयशील थे। सत्यनिष्ठा और कर्त्तव्यनिष्ठा उनके व्यक्तित्व को महान बनाता था। प्रेमचंद के द्वारा लिखित हज़रत अली का यह जीवन-चरित इतिहास की बारीक पड़ताल करता हुआ कई नए तथ्यों का संधान करता है और प्रेरणादाई है ... **भारत यायावर**



मुस्लिम देव-पुरुषों में हज़रत अली की कीर्ति जितनी उज्ज्वल और उनका चरित्र जितना आदर्श है उतना शायद और किसी का न होगा। वह फ़क़ीर नहीं थे, औलिया नहीं थे। उनकी गणना राजनीतिज्ञों या विजेताओं में भी नहीं की जा सकती लेकिन मुसलमान जनता को उन पर जितनी भक्ति और श्रद्धा है, चाहे शीया हों, चाहे सुन्नी, उतनी और किसी पर नहीं है। उन्हें सर्वसम्मति ने 'शेरे खुदा', 'मुशकिल कुशा' की उपाधियां दे रखी हैं। समरभूमि में मुस्लिम सेना धावा करती है तो 'या अली' कहकर। समस्त मुस्लिम जगत् का यही रण-नाद है। अखाड़ों में पहलवान लड़ने को उतरते हैं तो उनकी जिह्वा पर अली का नाम होता है। उनकी दीन-वत्सलता की सहस्रों किंवदंतियां प्रचलित हैं, उन्होंने अमुक पथिक को, जो जंगल में भटक रहा था, रास्ते पर लगा दिया। अमुक कर्णधार को जिसकी नौका लहरों में डुबकियां खा रही थीं, पार लगा दिया। इस सर्वप्रियता, इस भक्ति का कारण यही है कि अली बड़े शांत प्रकृति, बड़े गंभीर, बड़े धैर्यशील, बड़े उदार महापुरुष थे।

हज़रत अली हज़रत मुहम्मद के दामाद थे। विदुषी फ़ातिमा का विवाह अली से ही हुआ था। इसके अतिरिक्त वह हज़रत मुहम्मद के चचेरे भाई थे। मरदों में सबसे पहले वही हज़रत मुहम्मद पर विश्वास लाए थे। इतना ही नहीं मुहम्मद का पालन-पोषण उन्हीं के पिता अबुतालिब ने किया था। मुहम्मद साहब को उनसे बहुत प्रेम था और उनकी हार्दिक इच्छा भी थी कि मेरे पीछे अली ही ख़िलाफ़त की मेसनद पर बिठाए जाएं पर नियम से बंधे होने के कारण वह इसे स्पष्ट रूप से न कह सकते थे। अली में अगर अधिकार-भोग की लालसा होती तो वह मुहम्मद के बाद अपना हक़ अवश्य पेश करते लेकिन वह तटस्थ रहे और जनता ने अबूबक्र को ख़लीफ़ा चुन लिया। अबूबक्र के बाद उमर फ़ारूक़ ख़लीफ़ा हुए, तब भी अली ने अपना संतोष-व्रत न छोड़ा। फ़ारूक़ के बाद उस्मान की बारी आई। उस वक्त अली के ख़लीफ़ा चुने जाने की बहुत संभावना थी किंतु यह अवसर भी निकल गया, पक्ष बहुत बलवान होने पर भी ख़िलाफ़त न मिल सकी। इस घटना का स्पष्टीकरण इतिहासकारों ने यों किया है कि जब निर्वाचक मंडल के मध्यस्थ ने अली से पूछा, 'आप ख़लीफ़ा होकर शास्त्रानुसार शासन करेंगे न?' अली ने कहा, 'यथासाध्य'! मध्यस्थ ने यही प्रश्न उस्मान से भी किया। उस्मान ने कहा, "ईश्वर की इच्छा से, अवश्य करूंगा।" मध्यस्थ ने उस्मान को ख़लीफ़ा बना दिया। मगर अली को अपने असफल होने का लेशमात्र भी दुख नहीं हुआ। वह राज-काज से पृथक रहकर पठन-पाठन में प्रवृत्त हो गए। इतिहास और धर्मशास्त्र में वह पारंगत थे। साहित्य के केवल प्रेमी ही नहीं, स्वयं अच्छे कवि थे। उनकी कविता का अरबी भाषा में आज भी बड़ा मान है किंतु राज्यकार्य से अलग रहते हुए भी वह ख़लीफ़ा उस्मान को कठिन अवसरों पर उचित परामर्श देते रहते थे।

अरब जाति को इस बात का गौरव है कि उसने जिस देश की विजय की सबसे पहले कृषकों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया। ईराक, शाम, ईरान सभी देशों में कृषकों पर भूपतियों के अनेक अत्याचार होते थे। मुसलमानों ने इन देशों में पदार्पण करते ही प्रजा को भूपतियों की निरंकुशता से निवृत्त किया। यही कारण था कि प्रजा मुसलमान विजेताओं को अपना उद्धारक समझती थी और सहर्ष उनका स्वागत करती थी। यह लोग पहुंचते ही नहरें बनवाते थे, कुएं खुदवाते थे, भूमि कर घटाते थे और भांति-भांति की बेगारों की प्रथा को मिटा देते थे। यह नीति ख़लीफ़ा अबूबक्र और ख़लीफ़ा उमर दोनों ही के शासन काल में व्यवहृत होती रही और यह सब अली के ही सत्परामर्शों का फल था। वह पशुबल से प्रजा पर शासन करना पाप समझते थे। उनके हृदयों पर राज्य की भित्ति बनाना ही उन्हें श्रेयस्कर जान पड़ता था।

ख़लीफ़ा उस्मान धर्मपरायण पुरुष थे किंतु उनमें दृढ़ता का अभाव था। वह निष्पक्षभाव से शासन करने में समर्थ न थे। वह शीघ्र ही अपने कुल वालों के हाथ में कठपुतली बन गए। विशेषत: मेहबान नाम के एक पुरुष ने उन पर आधिपत्य जमा लिया। उस्मान उसके हाथ में हो गए। सूबेदारों ने प्रांतों में प्रजा पर अत्याचार करने शुरू किए। उन दिनों शाम (सीरिया) की सूबेदारी पर 'मुआविया' नियत थे जो आगे चलकर अली के बाद ख़लीफ़ा

हुए। मुआविया के कर्मचारियों ने प्रजा को इतना सताया कि समस्त प्रांत में हाहाकार मच गया। प्रजावर्ग के नेताओं ने ख़लीफ़ा के यहां आकर शिकायत की। मेहबान ने इन लोगों का अपमान किया और उन पर राजविद्रोह का लांछन लगाया लेकिन दूतों ने कहा कि जब तक हमारी फ़रियाद न सुनी जाएगी और हमको अत्याचारों से बचाने का वचन न दिया जाएगा हम यहां से कदापि न जाएंगे। ख़लीफ़ा उस्मान को भी ज्ञात हो गया कि समस्या इतनी सरल नहीं है, दूतगण असंतुष्ट होकर लौटेंगे तो संभव है, समस्त देश में कोई भीषण स्थिति उत्पन्न हो जाए। उन्होंने हज़रत अली से इस विषय में सलाह पूछी। हज़रत अली ने दूतों का पक्ष लिया और ख़लीफ़ा को समझाया कि इन लोगों की विनय प्रार्थना को सुनकर वास्तविक स्थिति का अन्वेषण करना चाहिए और यदि सूबेदार और उसके कर्मचारियों का अपराध सिद्ध हो जाए तो धर्मशास्त्र के अनुसार उन्हें दंड देना चाहिए। हम यह कहना भूल गए कि उस्मान 'बनू उम्मिया' वंश के पूर्व पुरुष थे। इस वंश में चिरकाल तक ख़िलाफ़त रही लेकिन यह वंश 'बनू हाशिमिया' का सदैव से प्रतिद्वंद्वी था जिसमें हज़रत मोहम्मद, उमर, अली आदि थे। अतएव उस्मान के अधिकांश सूबेदार, सेना नायक बनू अम्मिया वंश के ही थे और वह सब हज़रत अली को सशंक नेत्रों से देखते थे और मन ही मन द्वेष भी रखते थे। हज़रत अली की सलाह इन लोगों को पक्षपातपूर्ण मालूम हुई और वह इसकी अवहेलना करना चाहते थे किंतु ख़लीफ़ा को अली पर विश्वास था, उनकी सलाह मान ली, नेताओं को आश्वासन दिया कि हम शीघ्र ही सूबेदार के अत्याचारों की तहक़ीक़ात करेंगे और तुम्हारी शिकायतें दूर कर दी जाएंगी''।



लेकिन मेहबान को ख़लीफ़ा की यह सहनशीलता अनुचित जान पड़ी। यहां तो वह कुछ न बोला पर नेताओं के चले जाने के बाद ही उसने ईराक के हाकिम के नाम ख़लीफ़ा की मोहर का एक पत्र भेजा और ताक़ीद की कि ज्योंही नेतागण ईराक पहुंचें इनका वध कर दिया जाए। संयोगवश नेतागण मार्ग ही में थे कि इस दूत से उनकी भेंट हो गई। उन्हें संदेह हुआ कि इतना शीघ्र वहां से दूत क्यों भेजा जाता है। दूत को पकड़ा तो उसके पास वह पत्र निकला। लोग समझ गए कि ख़लीफ़ा ने हमसे दग़ा की। तुरंत मदीना की तरफ़ लौट पड़े और ख़लीफ़ा का मकान घेर लिया। ख़लीफ़ा ने इस पत्र के लिखने से साफ़ इंकार किया। विद्रोहियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती थी। एक महीने से ऊपर ख़लीफ़ा घर से निकलने न पाए। विद्रोहियों ने उनका खाना-पीना भी बाहर से आना बंद कर दिया। अली ने उन लोगों को समझाया कि ख़लीफ़ा का दाना-पानी बंद करना नीतिविरुद्ध है, यहां तक कि दुश्मनों के साथ भी इतनी रियायत की जाती है लेकिन विद्रोहियों ने वहां से हटने से इंकार किया। सारे शहर में हल-चल मच गई। शहर के सरदार घरों के द्वार बंद करके बैठे रहे किंतु अली और उनके वंश के लोग अंत समय तक विद्रोहियों से लड़ते रहे। दोनों तरफ़ के बहुत से आदमी मारे गए। अली ने बड़ी वीरता से शत्रुओं को रोका हालांकि उनके कितने ही शुभचिंतक उन्हें ख़लीफ़ा की रक्षा करने से मना करते रहे पर अली ने ऐसे कठिन अवसर पर ख़लीफ़ा का साथ छोड़ने से इंकार किया। अंत में विद्रोहियों ने दीवार पर चढ़कर मकान के अंदर प्रवेश किया और ख़लीफ़ा का वध कर दिया।

उस्मान के बाद हज़रत अली ख़लीफ़ा चुने गए। यद्यपि उन्हें हज़रत मुहम्मद के बाद ही चुना जाना चाहिए था पर इतने दिनों तक उन्होंने शांति से अपना समय विद्योन्नति में लगाया। अब भी जब वह मस्जिद में नमाज़ पढ़ाने गए तो स्पष्ट शब्दों में कहा, ''सज्जनो, आपने मुझे अपना ख़लीफ़ा बनाया है, मैं आपकी आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं, लेकिन अब भी यदि कोई मुझसे योग्य पुरुष चुना जाए तो मैं ख़िलाफ़त से अलग हो जाऊंगा।'' सब सज्जनों ने 'अली, अली' की ध्वनि से मस्जिद को गुंजित कर दिया।

ख़िलाफ़त की बागडोर हाथ में लेते ही अली ने स्वर्गवासी उस्मान के नियत किए हुए सूबेदारों को जो प्रजा पर अभी तक अत्याचार कर रहे थे, पदच्युत कर दिया और उनकी जगहों पर धर्मपरायण पुरुषों को नियुक्त किया। कितनों ही की जागीरें ज़ब्त करके प्रजा को दे दीं, कई कर्मचारियों के वेतन घटा दिए। अली के बंधुओं ने उन्हें समझाया कि इस कार्यवाही से बनू उम्मिया दल में बड़ी अशांति फैलेगी और यह सब आपके शत्रु हो जाएंगे पर अली ने इन शंकाओं से भयभीत होकर अपने कर्त्तव्य से हटना उचित न समझा और प्रांतों के सूबेदारों ने तो ख़लीफ़ा की आज्ञा मान ली, किंतु शाम के गवर्नर मुआविया ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और खुल्लमखुल्ला कहने लगा कि अली के इशारे से उस्मान का वध हुआ है, जब तक वह हत्यारों को दंड न देंगे हम उन्हें ख़लीफ़ा स्वीकार न करेंगे। मुआविया ने शाम में एक सशक्त सेना एकत्र कर ली थी। उसके बल पर वह अली का मुकाबला करने पर तैयार हो गया।

इधर हज़रत अली के सहयोगियों में ही वैमनस्य हो गया। उस्मान ने अंत समय ख़लीफ़ा का निर्वाचन करने के लिए तीन पुरुषों की एक मंडली बना दी थी। उनमें से दो का नाम 'तलहा' और 'जुबेर' था। यह दोनों महाशय थे तो हज़रत मुहम्मद के संगियों में किंतु मायामोह से विरक्त न हुए थे। तलहा ने 'कूफ़ा' प्रांत की सूबेदारी पर जाने की इच्छा प्रकट की और 'जुबेर' से बसरा की सूबेदारी पर लेकिन बसरा और कूफ़ा की प्रजा इन महानुभावों के अधीन रहना नहीं चाहती थी, उसने अली के पास संदेसा भेजा कि हम इन सूबेदारों को नहीं चाहते, यह न भेजे जाएं। ख़लीफ़ा ने इस विरोध के होते हुए तलहा और जुबेर की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। दोनों महानुभाव इस पर बिगड़ खड़े हुए। हज़रत मुहम्मद की धर्मपत्नी 'आयशा' भी अली को कदाचित् उस्मान के वध का हेतु समझती थीं। उन्होंने भी तलहा और जुबेर की सहायता की। यह तीनों प्राणी गुप्त रीति से कूफ़ा पहुंचे और वहां बलबा कर दिया। अली को यह समाचार मिला तो उन्हें बहुत दुख हुआ। उन्होंने कई बार उन महानुभावों को समझाया कि आपस की लड़ाई से हम दोनों की ही हानि होगी लेकिन जब समझाने का कुछ फल न हुआ तो वह विवश होकर इस विद्रोह को शांत करने के लिए तैयार हो गए। 'खोरैबा' के

स्थान पर घोर संग्राम हुआ जिसमें तलहा और जुबेर दोनों मारे गए। हज़रत अली ने 'आयशा' को बड़े आदर और सत्कार के साथ मदीना भेज दिया। जिस वक्त वह 'आयशा' के सम्मुख आकर खड़े हुए वह उन्हें देखते ही नाना प्रकार के अपमान सूचक शब्द कहने लगीं और उन पर ख़लीफ़ा उस्मान के घातक होने का अपराध लगाया। हज़रत अली ने अत्यंत धैर्य के साथ इन अपशब्दों को सुना और ज़रा भी प्रतिवाद न किया।

अब हज़रत अली को शाम के सूबेदार से निबटना शेष रह गया। मुआविया ने शाम में बहुत बड़ी शक्ति संचित कर ली थी। इसके उपरांत वह सभी आदमी, जो परलोकवासी ख़लीफ़ा उस्मान के खून का बदला लेना चाहते थे और हज़रत अली को इस हत्या का प्रेरक समझते थे, मुआविया के पास चले गए थे। 'आस' का पुत्र 'अमरो' इन्हीं द्वेषियों में था। अतएव जब अली शाम की तरफ़ बढ़े तो मुआविया एक बड़ी सेना से उनका प्रतिकार करने को तैयार था। हज़रत अली की सेना में कुल सात हज़ार योद्धा थे। तलहा और जुबेर से लड़ने में बसरा और कूफ़ा की बहुत बड़ी क्षति हुई थी, वे लोग इस लड़ाई में बहुत कम सम्मिलित हुए। जब दोनों सेनाएं निकट पहुंच गई तो ख़लीफ़ा ने फिर 'मुआविया' से समझौता करने की बातचीत की, परंतु अब विश्वास हो गया कि लड़ाई के बग़ैर कुछ निश्चय न होगा तो उसने 'अशतर' को अपनी सेना का नायक बनाकर लड़ाई की घोषणा कर दी। वह शत्रुओं की लड़ाई नहीं, बंधुओं की लड़ाई थी। भाई-भाई के, चचा-भतीजे के, मित्र-मित्र के खून का प्यासा हो रहा था, पहले मुआविया की सेना ने फ़रात नदी पर अधिकार प्राप्त कर किया और ख़लीफ़ा की सेना को प्यासा मार डालने की ठानी। अशतर ने जब देखा कि हमारे वीर गण पानी के बिना हताश हो रहे हैं तो उसने कहला भेजा कि पानी को रोकना युद्ध के नियमों के अनुकूल नहीं है, तुम नदी के किनारे से अपनी सेना हटा लो। मुआविया की भी राय थी कि इतनी क्रूरता न्याय विहीन है, पर उसके दरबारियों ने, जिनमें 'आस' का बेटा 'अमरो' प्रधान था, उसका विरोध किया। अंत में अशतर ने विकट संग्राम के बाद शत्रुओं को जलतट से हटाकर अपना अधिकार जमा लिया। अब इन लोगों की भी इच्छा हुई कि शत्रुओं को पानी न लेने दें पर हज़रत अली ने इस पाशविक रणनीति का तिरस्कार किया और अशतर को जलतट से हट जाने की आज्ञा दी।

इसके बाद मुहर्रम का पवित्र मास आ गया। इस महीने में मुसलमान जाति के लिए लड़ाई करना निषिद्ध है। अतएव दोनों तरफ़ से शांतिमय उपायों द्वारा मुआमले का निपटारा करने की बातचीत होती रही। हज़रत अली ने तीन बार अपने दूत भेजे लेकिन मुआविया ने हर बार यही जवाब दिया कि अली ने उस्मान की हत्या कराई है। वह ख़िलाफ़त छोड़ दें और उस्मान के घातकों को मेरे सुपुर्द कर दें। तब हम जिसे चाहेंगे ख़लीफ़ा बनाएंगे। अली बार-बार यही उत्तर देते थे कि ख़लीफ़ा उस्मान की हत्या से मेरा कोई संबंध नहीं है, इसलिए मैं ख़िलाफ़त न छोड़ूंगा। मुआविया वास्तव में इस बहाने से स्वयं ख़लीफ़ा बनना चाहता था। वह अली के मित्रों को भांति-भांति के प्रलोभनों से फोड़ने की चेष्टा किया करता था। जब मुहर्रम का महीना यों ही गुज़र गया तो ख़लीफ़ा ने रिसालों की तैयारी की आज्ञा दी और सेना को उपदेश दिया कि जब तक वे लोग तुमसे न लड़ें तुम उन पर कदापि आक्रमण न करना, जब वह पराजित हो जाएं तो भागने वालों का पीछा न करना और न उनका वध करना, घायलों का धन न छीनना, किसी को नग्न मत करना और न किसी स्त्री का सतीत्व भ्रष्ट करना, चाहे वह तुम लोगों को गालियां भी दे।

दूसरे दिन लड़ाई शुरू हुई और 10 दिनों तक जारी रही। कभी इस पक्ष की जीत होती, कभी उस पक्ष की। अशतर का सा कुशल नायक और अली जैसे वीर पुरुष समग्र सेना में न थे। अली स्वयं अपने पुत्रों के साथ रणक्षेत्र में निकलकर अपनी भीषण वीरता का परिचय दे रहे थे। एक बार वह शाम की सेना की सफ़ों को चीरते हुए मुआविया के पास जा पहुंचे और उसे ललकार कर कहा, क्यों व्यर्थ दोनों तरफ के वीरों का रक्त बहाते हो, आओ हम और तुम अकेले आपस में निपट लें। पर मुआविया अली के बाहुबल को खूब जानता था। अकेले निकलने का साहस न हुआ।

दसवें दिन सारी रात लड़ाई होती रही। शुक्र का दिन था। मध्याह्न काल बीत गया किंतु दोनों सेनाएं युद्धस्थल में अचल खड़ी थीं। सहसा अशतर ने अपनी समग्र शक्ति को एकत्र करके ऐसा धावा किया कि शामी सेना के क़दम उखड़ गए। बहुत समीप था कि अशतर की सेना उसे तितर-बितर करके सदैव के लिए उसकी शक्ति तोड़ देती। इतने में आस के बेटे अमरो को एक उपाय सूझा। उसने मुआविया से कहा अब क्या देखते हो, मैदान तुम्हारे हाथ से जाना चाहता है, लोगों को हुक्म दो कि कुरान शरीफ़ को अपने भालों पर उठाएं और उच्च स्वर से कहें, ''हमारे और तुम्हारे बीच में कुरान है''। अगर वह लोग कुरान की मर्यादा रखेंगे तो यह मार-काट इसी दम बंद हो जाएगी और अगर न मानेंगे तो उनमें मतभेद अवश्य हो जाएगा और इसमें भी हमारा ही फ़ायदा है। अतएव कुरान नेज़ों पर उठाए गए। अली समझ गए कि शत्रुओं ने चाल चली। अपनी सेना को आगे बढ़ने को ललकारा, किंतु शत्रुओं की चाल बड़े मार्के की थी। वह सेना किराए के टट्टुओं की न थी जो आंखें बंद करके अफ़सरों की आज्ञा का पालन करती, वरन् धर्मावलंबियों की सेना थी जो सत्य और न्याय की रक्षा करने के लिए रणक्षेत्र में आई थी। सिपाहियों ने आगे बढ़ने से इंकार किया और कहने लगे हमको हारजीत की चिंता नहीं है, हम तो केवल न्याय चाहते हैं, यदि वह लोग न्याय करना चाहते हैं तो हम भी तैयार हैं। अशतर ने सेना को समझाया, मित्रो, यह शत्रुओं की कपटनीति है, इनमें से एक भी कुरान का व्यवहार नहीं करता, इन्होंने केवल अपनी प्राण रक्षा के लिए यह उपाय किया है किंतु कौन सुनता है, चारों ओर से शोर मचने लगा, लड़ाई बंद की जाए, जब वह लोग कुरान को बीच में रखते हैं तो यह क्यों कर हो सकता है कि हम कुरान का अपमान करें। जीती-जिताई बाज़ी हाथ से निकल गई।

जब चारों ओर शांति छा गई तो क्रीस के बेटे 'अशअस' ने हज़रत अली से कहा, ''अब मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं जाकर मुआविया से पूछूं कि तुमने क्यों शरण मांगी है।'' जब वह मुआविया के पास आए तो उसने कहा, मैंने इसलिए शरण मांगी है कि हम और तुम दोनों अल्लाहताला से न्याय की प्रार्थना करें। दोनों तरफ़ से एक-एक मध्यस्थ चुन लिया जाए। दोनों मिलकर जो कुछ व्यवस्था दें उसे हम लोग स्वीकार कर लें। हमारी तरफ़ से आस के बेटे अमरो मध्यस्थ हैं। अली की सेना ने भी यह प्रस्ताव मान लिया। अब इधर से एक मध्यस्थ चुनने का प्रश्न उठा। लोगों ने 'अबूमूसा अशअरी' को चुना। अली ने इस निर्वाचन को अस्वीकार किया और कहा मुझे उन पर विश्वास नहीं है, वह पहले कई बार मेरी अमंगल कामना कर चुके हैं पर लोगों ने एक स्वर से फिर अबूमूसा को ही चुना। निदान अली को भी मानना पड़ा। दोनों मध्यस्थों में बड़ा अंतर था। आस का बेटा अमरो बड़ा राजनीति कुशल दांवपेंच जानने वाला आदमी था। इसके प्रतिकूल अबूमूसा सीधे-सादे मौलवी थे और मन में अली से कुछ द्वेष भी रखते थे। अभी यहां यह विवाद हो ही रहा था कि अमरो ने आकर पंचायतनामे की लिखा-पढ़ी कर ली,

फ़ैसला सुनाने का समय और स्थान निश्चित कर दिया गया और हज़रत अली अपनी सेना के साथ कूफ़ा को चले। इस अवसर पर एक विचित्र समस्या आ खड़ी हुई जिसने अली की कठिनाइयों को द्विगुण कर दिया। वही लोग जो लड़ाई बंद करने के पक्ष में थे, अब कुछ सोच-समझ कर लड़ाई को जारी रखने पर आग्रह करने लगे। पंचों की नियुक्ति भी उन्हें सिद्धांतों के विरुद्ध जान पड़ती थी लेकिन ख़लीफ़ा अपने वचन पर दृढ़ रहे। उन्होंने निश्चय रूप से कहा जब लड़ाई बंद कर दी गई है तो वह किसी प्रकार जारी नहीं रखी जा सकती। इस पर उनकी सेना के कितने ही योद्धा रुष्ट होकर अलग हो गए। उन्हें 'ख़ारिजी' कहते हैं। इन ख़ारिजियों ने आगे चलकर बड़ा उपद्रव किया और हज़रत अली की हत्या के मुख्य कारण हुए।

नियत समय पर हज़रत अली पंचों का फ़ैसला सुनने के लिए आए। पंचों की बैठक हुई। दोनों महानुभावों ने निश्चय किया कि अली और मुआविया दोनों ही ख़िलाफ़त के योग्य नहीं हैं। किसी अन्य पुरुष को इस पर आरूढ़ करना चाहिए। अमरो ने अबूमूसा से कहा कि पहले आप खड़े होकर सब लोगों को यह प्रस्ताव सुना दीजिए। पीछे से मैं भी इसका अनुमोदन कर दूंगा। अबूमूसा पट्टी में आ गए। अपना फ़ैसला सुना दिया। तब अमरो ने खड़े होकर कहा- "मैं अली को पृथक करता हूं और मुआविया का ख़लीफ़ा करार देता हूं।" यह सुनते ही अली के दल वालों में सनसनी फैल गई। सब लोग समझ गए कि अबूमूसा को धोखा दिया गया। कुछ लोग अमरो की जान लेने पर उद्यत हो गए लेकिन अब झगड़ा बढ़ाना व्यर्थ था। अबूमूसा तो यहां से मक्का सिधारे, अमरो ने शाम जाकर मुआविया को यह शुभ संवाद सुनाया, अली के साथियों ने जाकर उनसे यह हाल कहा। उन्होंने इस कपट नीति का हाल सुना तो पंचों का फ़ैसला मानने से इंकार किया।

इधर ख़ारीजीन ने इतना सिर उठाया कि ख़लीफ़ा ने जिन महानुभावों को उनको समझाने-बुझाने के लिए भेजा उन्हें क़त्ल कर दिया। इस पर अली ने उन्हें दंड देना आवश्यक समझा। नहरवां की लड़ाई में उनके सरदार मारे गए और बचे हुए लोग ख़लीफ़ा के प्रति कट्टर बैर भाव लेकर इधर-उधर जा छिपे।

अब अली ने शाम पर आक्रमण करने की तैयारी की लेकिन सेना लड़ते-लड़ते हतोत्साहित हो रही थी। कोई साथ देने पर तैयार न हुआ। उधर मुआविया ने मिश्र देश पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। ख़लीफ़ा की तरफ़ से 'मुहम्मद बिन अबू बक्र' नियुक्त थे। मुआविया ने पहले उसे रिश्वत देकर मिलाना चाहा लेकिन अब इस तरह दाल न गली तो अमरो को एक सेना देकर मिस्र की ओर भेजा। हज़रत अली ने समर और राजनीति में दक्ष 'अशतर' को मिस्र से विद्रोहियों को भगाने के लिए रवाना किया। मुआविया अशतर से डरता था। समझ गया यह मिस्र पहुंचा तो अवश्य हमारी पराजय होगी, अतएव कपट चाल से उसे विष खिलाकर मार डाला। अमरो ने मिस्र के स्थाई सूबेदार को बड़ी निर्दयता से मरवा डाला। इस भांति समस्त मिस्र-प्रांत मुआविया के अधीन हो गया।

इसके पश्चात् ख़लीफ़ा अली को दो साल तक ख़ारिजियों के विद्रोह के कारण शाम प्रांत पर आक्रमण करने का अवसर न मिला। अली की सत्यप्रियता ने उनके कितने ही मित्रों और अनुगामियों को उनका शत्रु बना दिया, यहां तक कि इस महासंकट के समय उनके चचेरे भाई 'अब्दुल्लाह के बेटे अब्बास' भी जो प्रत्येक अवसर पर उनके दाहिने हाथ बने रहते थे उनसे नाराज़ होकर मक्के को चले गए। ख़लीफ़ा को लोभ और स्पृहा से घृणा थी। अब्दुल्लाह पर किसी ने यह अपराध लगाया कि उन्होंने राज्य के इस कोष में से जो उनके अधिकार में था कुछ धन व्यय कर डाला है और दरबार को इसकी सूचना नहीं दी है। हज़रत अली ने अब्दुल्लाह को पत्र लिखा कि यह कैसा धन या जो तुम अपने खर्च में लाए। मालूम होता है तुम्हारी नीयत साफ़ नहीं है। अब्दुल्लाह ने उत्तर दिया, यह धन मेरा था और मुझे उसके ख़र्च करने का पूरा अधिकार था। अली ने इस पर कुछ और प्रश्न किए, जिससे नाराज़ होकर अब्दुल्लाह घर चले गए। संभव है कि किसी शत्रु ने मिथ्या दोषारोपण किया हो पर इससे यह अवश्य विदित होता है कि राजकीय कामों में अली अपने निज बंधुओं का पक्ष भी नहीं लिया करते थे।

अब्दुल्लाह के चले जाने के थोड़े ही दिन बाद ख़ारिजियों ने अली की हत्या करने के लिए एक षड्यंत्र रचा। मिस्र निवासी एक व्यक्ति ने जिसे 'मलज़म' कहते थे, अली को मारने का बीड़ा उठाया। इन लोगों का इरादा था कि अली और मुआविया दोनों ही को समाप्त करके कोई दूसरा ख़लीफ़ा चुनें मुआविया की हत्या करने का काम एक अन्य व्यक्ति ने अपने सिर लिया।

शुक्र का दिन दोनों हत्याओं के लिए निश्चित किया गया। थोड़ी रात गई थी। अली मस्जिद में नियमानुसार नमाज़ पढ़ाने आए। मलजम मस्जिद के द्वार पर छिपा बैठा था। अली को देखते ही उन पर तलवार चलाई। माथे पर चोट लगी। वहीं गिर पड़े। मलज़म पकड़ लिया गया। ख़लीफ़ा को लोग उठाकर मकान पर लाए। मलज़म उनके सम्मुख लाया गया। अली ने पूछा तुमने किस अपराध के लिए मुझे मारा? मलज़म ने कहा, इसीलिए कि तुमने बहुत से निरपराध मनुष्यों को मारा है। तब अली ने लोगों से कहा यदि मैं मर जाऊं तो तुम भी इसे मार डालना लेकिन इसी की तलवार से और एक ही वार करना। इसके सिवा और किसी को क्रोध के वश होकर मत मारना। इसके बाद उन्होंने अपने दोनों पुत्रों हसन और हुसेन को सदुपदेश दिया और थोड़ी देर बाद परलोक सिधारे। अपने पुत्रों में से किसी को अपना उत्तराधिकारी बनाने की चेष्टा तक न की।

उधर दूसरे हत्यारे ने मुआविया पर भी हाथ चलाया किंतु घाव पूरा न लगा। अपराधी पकड़ लिया गया और मुआविया मरहम-पट्टी करके अच्छे हो गए।

हज़रत अली कुल पांच वर्ष तक ख़लीफ़ा रहे और यह सारा समय आपस की लड़ाइयों में व्यतीत हुआ। सुप्रबंध और संगठन का उन्हें अवसर ही न मिला, नहीं तो वह ख़िलाफ़त को इस दशा में न छोड़ जाते। वह विद्वान थे, पराक्रमी थे, सुकवि थे, नीतिज्ञ थे, न्यायशील थे। नीति से एक जौ भर भी टलना नहीं चाहते थे और अंत में यही नीति परायणता उनकी प्राणघातक हुई। इस्लाम का संपूर्ण इतिहास उलट जाइए, ऐसा सचरित्र पुरुष आपको न मिलेगा। यह दुर्भाग्य की बात थी कि आप उस काल में हुए जब नम्रता और शील के बदले कठोरता और कूटनीति की अधिक जरूरत थी। उन्होंने सत्य और नीति के सामने कभी स्वार्थ की परवा नहीं की। अपने मित्रों और बांधवों का भी न्याय के विरुद्ध आचरण करना सहन नहीं कर सकते थे। और इन्हीं सद्गुणों को शत्रुओं ने अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन बना लिया।

संपर्क : यशवंत नगर, हज़ारीबाग-825301 (झारखंड)

संघर्ष का संगीत

पं. विजयशंकर मिश्र

संघर्ष और समस्याओं को देखते हुए पिछले कुछ वर्षों में कई ऐसी संस्थाएं सामने आई हैं जो संघर्षरत युवा संगीतकारों को अवसर देने हेतु सक्रिय हैं। गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा द्वारा संचालित 'नवोदित कलाकार समिति' एक ऐसी ही संस्था है। पिछले दिनों संपन्न संगीत संध्या में जगजीत सिंह और रविशंकर सिंह के चमत्कारिक तबला वादन ने विशेष रूप से आकर्षित किया। ग़ौरतलब है कि ये दोनों ताबलिक दो भिन्न परंपराओं, घरानों से संबद्ध हैं। जगजीत पंजाब और बनारस घराने से संबद्ध हैं तो रविशंकर अजराड़ा लेकिन दोनों का आपसी तालमेल प्रभावित करता है। दोनों ने अपने-अपने घराने के पेशकार को लय के दर्जे दिखाते हुए स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया। दिल्ली का मशहूर क़ायदा 'धातिट धातिट' और आड़ी लय का 'धिरधिर' को रेला बजाकर दोनों युवा वादकों ने सिद्ध कर दिया कि उन्होंने अच्छी शिक्षा भी पाई है। फ़रमाइशी चक्रदार के रूप में तिपल्ली गत, टुकड़े, परनों और अंत्याक्षरी के टुकड़ों को बजाकर दोनों युवा ताबलिकों ने सिद्ध कर दिया कि आनेवाला समय इनका है। पं. देवेंद्र कुमार वर्मा ने इस शाम राग नंद की भावपूर्ण प्रस्तुति की। विलंबित एकताल में 'निबद्ध एरी वारी सैंया' और द्रुत त्रिताल में निबद्ध 'अजहूं न आए श्याम' गाकर वर्माजी ने समा बांध दिया। अजय वर्मा (तबला) और संतोष सिन्हा (हारमोनियम) की संगति भी काफ़ी सहयोगपूर्ण रही।



नृत्यांगना रागिनी महाराज

श्वेता दुबे का उपशास्त्रीय गायन भी खूब सराहा गया। श्वेता ने गुरु वंदना के बाद मिश्र तिलककामोद में एक आकर्षक ठुमरी सुनाई 'जाग पड़ी मैं तो पिया के जगाए'। खमाज में निबद्ध दादरा 'कैसे चलूं मग रोके कन्हैया' और फिर बारहमासा 'ऐ ही झुलनी के छैयां' गाकर श्वेता ने संयोग श्रृंगार के विभिन्न रंगों से वातावरण को सरस कर दिया। उनकी मख़मली, खनकती, रेशमी आवाज़ का जादू आज सिर चढ़कर बोल रहा था। श्वेता गीत के शब्दों को अंदर से महसूस करती हैं और छा जाती हैं महफ़िल पर। ज़ाकिर धौलपुरी ने श्वेता के गायन को प्रभावशाली बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। शौकत हुसैन की तबला संगति भी अच्छी रही। समारोह का समापन सौभाग्य गंधर्व के मर्मस्पर्शी बांसुरी वादन से हुआ। सौभाग्य युवा पीढ़ी के अत्यंत प्रतिभासंपन्न बांसुरी वादक हैं। उन्होंने राग यमन की प्रभावशाली प्रस्तुति की। बांसुरी फूंक का एक श्रमसाध्य साज़ है लेकिन सौभाग्य आलाप, जोड़ और झाला से लेकर त्रिताल में निबद्ध विलंबित और द्रुत गतों तक में अपने सुरीलेपन का लगातार परिचय देते रहे। स्व. पन्नालाल घोष की रचना और फिर पहाड़ी में धुन बजाकर इन्होंने लोगों को भावविभोर कर दिया। तबले पर सत्येंद्र नामदेव ने बहुत अच्छी संगत की।

'रागरंजनी' द्वारा अमलताश में आयोजित संगीत संध्या में विदुषी सुमित्रा गुहा को 'रागरंजनी भूषण सम्मान' से एवं शिखा गांगुली तथा लता मालवीया खत्री को 'रागरंजनीश्री सम्मान' से सम्मानित किया गया। सम्मान समारोह के बाद शिखा गांगुली और इंदिरा मुखर्जी का सरस गायन संपन्न हुआ। इंदिरा ने मिश्र तिलंग की एक ठुमरी से शुरुआत की, उसके बाद वह दादरे की ओर मुड़ीं 'तोरे नैना रसीले, कटीले हाय राम!' उन्होंने एक कजरी भी सुनाई 'सावन की ऋतु आए'। तत्पश्चात् होली के रंगों से सबको सराबोर कर दिया, 'बरजोरी करो ना मोसे होरी में'। इंदिरा ने अपने सुरीले गायन का समापन एक निर्गुण चैती से किया। इंदिरा युवा पीढ़ी की प्रतिभावान गायिका हैं।

स्टाईन सभागार में भव्यतापूर्वक संपन्न बैजूबावरा संगीत समारोह में लखनऊ घराने की युवा नृत्यांगना रागिनी महाराज और बनारस घराने के वरिष्ठ ताबलिक पं. कुमार लाल मिश्र की प्रस्तुतियों ने ख़ासा प्रभावित किया। रागिनी ने अपने नृत्य का शुभारंभ एक भजन से किया, 'एक अनेक रूप में देखूं गोविंद गोपाल मुरारी'। इसमें कृष्ण की विभिन्न छवियों और लीलाओं का आकर्षक चित्रण था। तीनताल एवं चौताल में कथक के तकनीकी पक्ष के अंतर्गत रागिनी ने परणआमद, परण, परमेलू, तोड़े, टुकड़े और तिहाइयों की चमत्कृत करती प्रस्तुति की।

रागिनी ने कालिका-बिंदादीन घराने की कई ख़ास बंदिशों को ख़ास अंदाज़ में पेश किया। 'मोरे घर आए सांवरिया' ठुमरी पर अभिनय करते हुए सबका मन मोह लिया। बनारस घराने के प्रतिष्ठित ताबलिक पं. कुमार लाल मिश्र का प्रभावशाली स्वतंत्र तबला वादन इस समारोह का विशेष आकर्षण था। पंडितजी ने अपने पुत्र मंगला प्रसाद के साथ मिलकर अपने घर और घराने की कई प्रभावशाली रचनाएं प्रभावशाली अंदाज़ में पेश किया। ठेके का विस्तार, कायदे, बांट, रेले और बनारस की प्रमुख गतों और फर्दों की प्रस्तुति करके पं. कुमार लाल मिश्र ने अपने महान पिता पं. सामता प्रसाद उर्फ गुदई महाराज की याद दिला दी। इस अवसर पर पं. कुमार लाल मिश्र को तबला चक्रवर्ती सम्मान से सम्मानित किया गया। गायक गणेश मिश्र (बनारस), ताबलिक शुभ महाराज और मंगला प्रसाद मिश्र, नृत्यांगना रागिनी महाराज एवं सरोद वादक आयुष मोहन को भी उनकी संगीत सेवाओं के लिए इस समारोह में सम्मानित किया गया। कार्यक्रम का संचालन मुदित नारायण ने किया। ❑

संपर्क : 'शंकरा' 705 डी/21सी वार्ड नं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030

अतीत की विरासत का अधुनातन आख्यान

प्रभाकर पाठक



मानुषखोर (उपन्यास)
गंगाप्रसाद विमल
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 595 रुपये, पृष्ठ : 368

गंगाप्रसाद विमल का उपन्यास 'मानुषखोर' एक रूपक के तौर पर आया है जिसका बहुत ही व्यंजक इस्तेमाल किया गया है। पहाड़ी प्रदेशों में यह मिथक अतिशय व्याप्त है कि वहां पहाड़ों में एक नरभक्षी जाति भी रहती है। हालांकि, हमें उपन्यास के अंत में पहुंचकर पता चलता है कि जिसे लोग नरभक्षी कह रहे हैं, वह तो एक तरह से हमारी जातीय स्मृतियों के अंग हैं। ये स्मृतियां पहाड़ों की अपनी थाती हैं, जिसे वहां के कठोर और श्रमसाध्य जीवन को दिखाकर, उसे लोकगीतों के माध्यम से इस उपन्यास में परोसकर विमलजी ने बहुत ही सजग ढंग से न केवल पकड़ा है बल्कि प्रस्तुत भी किया है।

विमलजी का उपन्यास अपने शीर्षक से ही उत्सुकता जगा देता है। यह उत्सुकता लेखक इरादतन जगाता भी है, एक से अधिक मानुषखोरों को प्रस्तुत करके। शायद उसकी प्रत्याशा है कि इसी उत्सुकता में पाठक लगातार पन्ने पलटता जाए और पूरा उपन्यास खत्म कर ले, हालांकि यह विस्तृत उपन्यास एक 'सिटिंग' में खत्म करने लायक है नहीं। इसके कथानक में इतने पेंच हैं, इतने मोड़ हैं कि पाठक को सायास पूरा कथाक्रम याद रखना होगा और तभी वह उपन्यास की कथावस्तु में खुद को कायम रख पाएगा, हालांकि पहले ही अध्याय में जब सरकटी लाशें मिलती हैं तो मुखियाजी को ही मानुषखोर के रूप में प्रतिष्ठित कर लेखक कथा-सूत्र का संचालन अपने हाथों में ले लेता है। इसके बाद लेकिन, जब लगभग 150 पन्नों तक मुखियाजी ग़ायब से हो जाते हैं, तो पाठक को बीच के पूरे कथासूत्र और पहले की कथावस्तु में क्रम पिरोने के लिए सायास मेहनत तो करनी ही होती है।

जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं। यह बात हमें 'मानुषखोर' में भी देखने को मिलती है। पहाड़ी जीवन को जिस समग्रता और व्यापकता से लेखक ने उकेरा है, वह सचमुच श्लाघ्य है, स्पर्द्धेय है।

उपन्यास में यथार्थ के प्रति आग्रह का एक परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य के अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्व, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाओं में कैद हो गई। उपन्यास की कला की उत्पत्ति और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ।

विज्ञान ने एक तरफ जहां व्यक्ति और समाज को सामान्य धरातल से देखने तथा चित्रित करने की प्रेरणा दी, वहीं दूसरी ओर उसने जीवन की समस्याओं के प्रति एक नए दृष्टिकोण का भी संकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यत: बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसकी साधना कला की समस्याओं तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरूकता की अपेक्षा रखती थी। यहीं, इसी निकष पर 'मानुषखोर' और उसके लेखक गंगाप्रसाद विमल अपनी पूरी चमक बिखेरते नजर आ जाते हैं।

कथासूत्र वैसे बड़ा साधारण है, लेकिन अपनी नयी शैली, फंतासीपूर्ण लेखन और हटकर चरित्र-विधान के चलते 'मानुषखोर' अलग खड़ा नजर आता है। मुखियाजी की मानुषखोर के रूप में प्रतिष्ठा कर लेखक उन्हें कथाक्रम से ग़ायब सा कर देता है, इस बीच शक की सुई उनियाल जैसे कई और पर भी वे घुमाते रहते हैं। मुखियाजी बहुत बाद में प्रकट भी होते हैं तो पूरा व्यक्तित्व ही बदलकर। वह विलेन से हीरो बन जाते हैं, मानुषखोर से समाज-सुधारक का चोला धारण कर आते हैं। आख़िर में, तो सचमुच का नरभक्षी बाघ भी प्रकट हो जाता है।

कुल 13 अध्यायों में विभक्त इस उपन्यास के कथा-सूत्र अंतर्बद्ध तो हैं लेकिन लेखक हमें इतनी दूर घुमाकर वापस लाते हैं कि उनकी शैली बरबस ही देवकीनंदन खत्री की याद दिला देती है। राजनैतिक हत्याओं का एक अध्याय आख़िरकार हमें बता देता है कि मानुषखोर कौन है और लेखक का साध्य भी यह बताना मात्र ही है। 'एक तरफ़ मानुषखोरों की कतार थी और दूसरी तरफ थे निरीह लोग'!

एक नितांत अलग शैली में उपन्यास-लेखन की इस ज़िद ने ही सामान्य तौर पर पाठकों को बहुधा भ्रमित भी किया है। कथा-सूत्र का गुंजलक खुलते-खुलते देर लगती है, तब तक पिछला हिस्सा याद करना आज के क्षणस्थायी पाठक के लिए शायद थोड़ा टेढ़ा साबित होगा। मानुषखोरों को भिन्न कालावधि में भिन्न लोगों के तौर पर नियोजित करने की लेखकीय योजना कथाक्रम को थोड़ा लंबा तो करती है, पर वह एक अलग तौर पर पाठकीय उत्सुकता को भी जगाती है।

ये भिन्न सोपान, वैविध्य और पाठकीय कुतूहल जगाने की औपन्यासिकता के मानक हैं, और साथ ही मानुषखोरों को उजागर करने के नव्य विधान भी। वह अपनी प्रस्तुति में इस कथा-कला से अंतिम निष्कर्ष के अनुसार मानुषखोरों का एक वर्ग ही प्रस्तुत कर देते हैं। इतनी सारी सरकटी लाशें शायद इस प्रजातंत्र के निरीह नागरिकों और बेबस जन का प्रतीक हैं, जो व्यक्ति और वृत्ति का प्रतीक मात्र बनने का माद्दा रखती हैं।

फंतासी, जटिलता की गोद में सरलता का चित्रण, कथा-बाहुल्य, स्थानीय चरित्र-चित्रण और कई सारे कथासूत्रों को एक उपन्यास में पिरो देना, इस उपन्यास की विशेषता बनकर हमारे सामने आता है। विमलजी ने एक कहानी में ढेरों कथाएं सुनाई

है, जिनमें एक-एक औसत उपन्यास की संभावनाएं मौजूद हैं। यहां उनके अंदर का किस्सागो पूरी तरह सामने आ जाता है। हालांकि, उपन्यास का अंत इस कदर आकस्मिक है कि तर्कशीलता से भरे इस युग में थोड़ा सा खटकता तो जरूर है।

उपन्यास के कुछ पेंच ऐसे जरूर हैं, जिसे सुलझा देना लेखक के लिए बेहतर होता। मसलन हेडमास्टर (यानी वाचक) और मुखियाजी का अचानक प्रकट होना और फिर ग़ायब भी, सिरे से पकड़ में नहीं आता। फिर, सकलानी की कथा-उपादेयता, उसकी संतानों का अचानक मरना या फिर सुमित्रा का अपनी सौत की संतानों को पूरी संपत्ति दे देना भी अनायास ही समझ में नहीं आता। इन सभी पेंचों को अगर खोल दिया जाता तो उपन्यास शायद और अधिक रुचिकर और पाठक को प्रियतर होता।

राजनीति, राजवंश, गढ़वाल-नेपाल संघर्ष के साथ ही आख़िर में अमरीकी यात्रियों के ज़रिए लेखक ने कई सारे मानुषखोरों को प्रस्तुत कर दिया है, जहां पाठक ठहरकर पूछने को विवश होता है। कौन है असली मानुषखोर या कौन नहीं है मानुषखोर?

'मानुषखोर' का आम आदमी टूटता नहीं, हारता नहीं, वह जीता है- आदतन या इरादतन। यही लेखक का सबसे बड़ा कौशल है। गजा, चमुआखाल, पडियार, ग्वर्हटियाल, कुशी, पालमखेत, कोटेश्वर, ऋषिकेश इत्यादि का खूब ही वर्णन हुआ है, और इन सबके माध्यम से विमलजी ने एक लोक की रचना की है। लोकगीतों के अनुवादों के माध्यम से ही सही, हमें इस अंचल में घुमाने की वह कोशिश करते हैं। हालांकि, बहुत अधिक आंचलिकता के प्रयोग से लेखक बचे हैं, लेकिन वह शायद उनकी लेखकीय शैली का नतीजा है, जहां आधा आवृत्त है, आधा अनावृत्त। यही शायद सौंदर्य का निकष भी है और यही पराकाष्ठा भी। गोठ्यार (आंगन), औंसो (मीठे पकौड़े), दिदा (बड़े भाई), भैजी (भाईजी), अछरी (अप्सरा) आदि के प्रयोग पाठकों को बरबस ही आकृष्ट करते हैं, हालांकि भोजपुरी अंचल का पाठक झोंपड़ी के लिए प्रयुक्त 'छान' शब्द से तो खूब परिचित है ही।

डॉ. विमल का यह उपन्यास पठनीय तो है ही, अपनी नवीन लेखन-शैली और आंचलिक बखान की वजह से संग्रहणीय भी है। ❑

संपर्क : काबरा घाट, पो. दरभंगा (बिहार)

मानवता को परिभाषित करती संवेदनाएं

अशोक मनोरम



रुक्काबाई का कोठा (उपन्यास)
रवींद्र श्रीवास्तव
प्रकाशक : स्मरण पब्लिकेशंस (जेडी. ग्रुप ऑफ पब्लिकेशंस), नई दिल्ली, मुंबई, इंदौर,
मूल्य : 400 रुपये, पृष्ठ : 376

'रुक्काबाई का कोठा' एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें प्रेम है, रोमांस है, थ्रिल है और कोठे पर रहनेवाली वारांगणाओं की कहानी भी है। उपन्यास तो है पर कहानियों के कॉकटेल से यह मात्र उपन्यास नहीं, महाग्रंथ बन गया है। इस पुस्तक में भाषा का चमत्कार है, लेखन की रवानगी है। उपन्यास चरित्र-स्थल, सिचुएशंस, प्रकरण एवं घटनाओं को पूरी तरह आम और ख़ास सभी के सरोकारों को समाज के सामने रखता है।

'रुक्काबाई का कोठा' के समस्त चरित्र, स्थल, परिस्थिति, प्रकरण एवं घटनाएं पूरी तरह काल्पनिक हैं। उपन्यास का मुख्य घटनास्थल रांची शहर और वहां के कोठों की बस्ती भी लेखक की अपनी परिकल्पना है। कोठे का अपना व्याकरण और विशेषताएं भी इस पुस्तक को अन्य से अलग करता है।

रवींद्र श्रीवास्तव को ऐसा लगता है कि एक्सेंट का यह जामा कोठों के मुहल्ले में शायद ज्यादा पहनाया जाता रहा होगा, जहां प्रांत, ज़िलों, शहरों और गांवों से लड़कियों को भगा-फुसलाकर नौकरी का लालच या दूसरे सुनहरे ऐंद्रजालिक सपने दिखा कर कोठों पर लाकर बेच दिया जाता रहा है।

इसी के साथ एक-दूसरे की बोली और भाषा से एकदम अनजान ये मासूम लड़कियां देह-धंधे की अपनी भिन्न-भिन्न भाषी सहयोगियों व ग्राहकों से बातचीत करने के लिए अपने ज्ञान व अपनी क्षमता के मुताबिक संपर्क भाषा को बोलचाल का जो जामा पहना देती हैं, वहां तक तो भाषा-वैज्ञानिकों ने जाने की कसरत ही नहीं की। लड़कियों की सप्लायर शब्बो मौसी, रुक्काबाई व कुछ लड़कियों के एक्सेंट को पेश करने से खुद को नहीं रोक सका। उनके संवाद को आप न तो भोजपुरी कह सकते हैं और न ही अवधी, ब्रजभाषा या खड़ी बोली। ...

अब आप उसे जो चाहें कहें लेकिन उन जैसी लाखों औरतें बोलती तो हैं...।

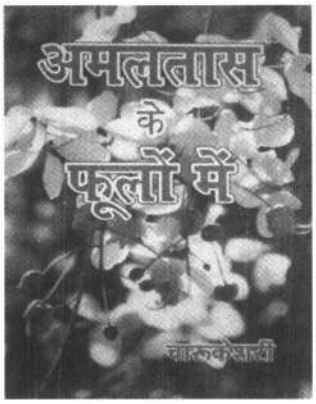
दरअसल इस कोठे की दास्तान में कई शेड्स हैं। कभी गंगाजल जैसा पवित्र, कभी माडर्न गैंग के गुंडों जैसा मक्कार और कभी-कभी तो मानवता की परिभाषा गढ़ने को मजबूर हो जाने वाली ये साहित्यिक अदाकारी और फ़रमाबरदारी की मिसाल बनीं कोठेवालियों की दुखती रगों के बीच की मानवता को परिभाषित करती संवेदना की चिंगारी जब चमकती है, तो बड़े-बड़े समाजसेवी भी उस चकाचौंध में कहीं नज़र नहीं आते, सूरज की चमकार में खो जाते हैं।

इस कहानी को कुल 29 अध्यायों में बांटकर लेखक ने अपनी काबलियत की पहचान कराई है। कोठे की कहानी को लिखने से पहले लेखक शायद यह सोच रहा था कि आने वाले समय में एक ब्लॉक-बस्टर फिल्म बनाकर एक नया इतिहास रचेगा और उसके मन की मुराद पूरी होगी। अपने हिसाब से तो एक अच्छी फिल्म की सारी खूबियां इस पुस्तक में श्रीवास्तवजी ने डाली थीं, अब अगर फिल्म बनी ही नहीं, तो इस पर चर्चा की जरूरत कहां से आ गई? यह अलग बात है कि अगर इस कहानी पर फिल्म बनती तो शायद वह 'मंडी' फिल्म से ज्यादा शोहरत पाती। ❑

संपर्क : आर. जेड.-31, ब्लॉक-एक्स, न्यू रौशनपुरा, रिसाल सिंह मार्ग, दिल्ली-110043

देशप्रेम से महकता अमलतास

उमा साह



अमलतास के फूलों में (कहानी-संग्रह)
चारूकेशरी
प्रकाशक : तहज़ीब इंटरप्राइज़ेज़, के-94, अबुल फ़ज़ल इन्क्लेव,
जामिया नगर, नई दिल्ली-110025
पृष्ठ : 179, मूल्य : 200 रुपये (पेपरबैक)

फेडरिको फेलिनी ने कहा है, 'हर कृति अपने कलाकार की आत्मकथा है, मोती सीप की आत्मकथा ही है।' चारूकेशरी (किरण सक्सेना) का कहानी-संग्रह 'अमलतास के फूलों में' की कहानियां कुछ इन्हीं पंक्तियों की सार्थक अभिव्यक्ति लगती है। लेखिका इस पुस्तक में स्वयं लिखती हैं कि उनकी कहानियां उनके अनुभवों से जन्मी हैं। लेखन की दुनिया उन्हें उनके सैनिक परिवार और परिवश ने दिया। बालमनोविज्ञान के साथ लेखिका सामाजिक संरचना में छिपे हाशिए के लोगों के दर्द और संवेदना की भी पारखी हैं। सामाजिक समस्याएं जिसे कभी-कभी हम अनदेखा करते हैं, इस अनदेखे के कारण समाज में किस प्रकार विसंगति आती है, इसे लेखिका ने अपनी कहानियों में बताया है। 'अमलतास के फूलों में' की प्रत्येक कहानियां आज के परिवेश, बालमनोविज्ञान, रिश्तों की कशमकश और जीवन के प्रति एक अजब जिजीविषा की बानगी है। हर कहानी अपने साथ कुछ संदेश देने की कोशिश करती जान पड़ती है। 'गौरा' और 'मन का कैंसर' के माध्यम से समाज के कड़वे सच को हमारे बीच उजागर किया है। 'गौरा' कहानी की पात्र गौरां एक छह वर्ष की मासूम बच्ची है, जो अपनी मां के साथ महानगर के चौराहे पर लाल बत्ती होते ही वाहनों के रुकने पर चालकों और सवारियों को अख़बार बेचती है। इस मासूम सी बच्ची को छह वर्ष की उम्र में ही उसके परिवेश ने ऐसा बना दिया कि वह अपनी मां से झूठ बोल कर एक-एक अठन्नी छुपा-छुपा कर जमा करती है। इतनी कम उम्र में झूठ और एक प्रकार की चोरी सीखने वाली बच्ची उस पूरे लाल बत्ती के साए में खत्म हो रही मासूमियत का प्रतिनिधित्व करती नज़र आती है। हम अक्सर लाल बत्ती होते ही बच्चों को कुछ बेचते या पैसे मांगते देखते हैं और हरी बत्ती होते ही हम आगे निकल जाते हैं, किनारे मासूम बत्ती के लाल होने के इंतज़ार में रह जाते हैं। इन मासूम बच्चों के मासूम सपनों को लेखिका ने बताने का प्रयास किया है और महानगरों में अभाव में गुम होते मानव मूल्यों पर संकेत किया है। 'मन का कैंसर' भी एक ऐसी ही सामाजिक समस्या को संकेत करती है। बचपन में लड़कियों के साथ किसी प्रकार के यौन उत्पीड़न के कारण जो भय होता है वह उसे अवसाद में धकेल देता है। लेखिका इस कहानी में बड़ी सारगर्भिता से इसे मन के अंदर कैंसर का बीज बताती हैं। प्रेम कहानियां इस संग्रह में बीते हुए प्रेम को याद कर यादों की सुनहरी फ्रेम लगाती है।

इस क्रम में 'अमलतास के फूलों में' शीर्षक कहानी में स्त्री का प्रेम अंधविश्वास की बलि चढ़ जाता है। लेखिका ने प्रेम में मिलन नहीं एक त्याग की मूर्ति के रूप में स्त्री को दर्शाया है। 'सौन चिरैया' कहानी की नायिका भी अपने तथाकथित आन-बान की रक्षा के लिए अपने प्रेम का त्याग कर महल रूपी सोने के पिंजरे में कैद हो जाती है। लेखिका की प्रेम की अभिव्यक्ति आदर्शवाद को स्थापित करने का एक प्रयास जान पड़ती है। स्त्री के वृद्धावस्था और एकांत में उसके फिर से नई उड़ान भरने के सपनों को इस संग्रह की अन्य कहानियों में बहुत बारीकी से बुना है। संग्रह में कुल 32 कहानियां हैं जो भ्रष्टाचार, बाज़ारवाद के प्रवाह और संघर्ष के साथ जो सबसे अधिक ध्यानाकर्षण का केंद्र है वो है हमारे देश के सैनिकों की ज़िंदगी से जुड़ी कहानियां। सैनिक की कहानी फिल्मों में तो देखने को मिलती हैं लेकिन साहित्य में सैनिकों पर बहुत ज्यादा पढ़ने को नहीं मिलता। सैनिक और देश के प्रति उनके जज़्बे को लेखिका ने बहुत मार्मिक और साहसिक ढंग से रेखांकित किया है। बहुत से अनदेखे पहलुओं से परिचय कराया है। देशभक्ति और दृढ़ता को व्यक्त करती कहानियों के क्रम में सबसे मज़बूत 'हम हिंदुस्तानी' शीर्षक कहानी है जिसमें लेखिका ने उस सच को बयां किया है जिसको लेकर अक्सर कई प्रकार की भ्रांतियां फैली हुई हैं। इस कहानी में सैनिक अपनी जान की परवाह किए बिना किस प्रकार सरहद पर हमारी रक्षा के लिए तैनात रहते हैं, इसे दर्शाया है। सीमा से लगे भारतीय गांव वालों के साथ फ़ौजियों का परिवार जैसा संबंध हो जाता है। यह कहानी सरहद पार से हर रोज़ होने वाली गोलाबारी से उजड़ रहे लोगों की त्रासदी और उस त्रासदी में भारतीय सैनिक द्वारा गांव वालों के लिए पूरे दिल से किए जाने वाले कामों और अन्य सेवा कार्यों का चित्रण है। लेखिका कहती हैं दहशत फैलाने वालों का कोई धर्म नहीं होता। ये उन लोगों को मुंहतोड़ जवाब देती कहानी है जो देश के इन्हीं सैनिकों की बदौलत सुरक्षित स्थानों पर बैठ कर अपने देश के प्रहरियों के बारे में कुछ भी अनाप-शनाप बकते हैं। इस कड़ी में अगली कहानी है 'देश की ख़ातिर'।

इस कहानी में करगिल युद्ध में सैनिकों के साथ हुए हादसों की कहानी है। देश के प्रति उनके अपार प्रेम का एक विराट फलक इस कहानी में दिखाई देता है। इस कहानी का नायक सैनिक कहता है, ''इधर हमारी कुर्बानियां, उधर राष्ट्र की एकता और उत्साहवर्धक कार्य, कामनाएं और प्रार्थनाएं हमारी फ़ौजों के लिए। भारत जैसा अनूठा देश दुनिया में नहीं सर।'' 'दर्द का रिश्ता' कहानी फ़ौजी जीवन के अनदेखे अंतस मन की व्याख्या है कि, जब दो दुश्मन मुल्कों के सैनिक एक ही अस्पताल में घायल अवस्था में रहते हैं तो दर्द उनके बीच एक अजब-सा अनजाना रिश्ता जोड़ देता है। दोनों दुश्मन एक-दूसरे को सीमा पर गोले दागते हैं और दर्द में दोनों एक-दूसरे को शुभकामनाएं देते हैं। वास्तव में यह दर्द का रिश्ता कर्त्तव्य और मानवता का प्रतीक है। 'प्रहरी' कहानी युवा प्रहारी के मन के प्रेम की कहानी है, ऐसा प्रेम जो उसे बर्फ़ीले पहाड़ों पर संवेदनाओं की तपिश देता है। 'बबल शुटर' भी सैनिक की शहादत के बाद उसकी पत्नी के हौसले की छोटी-सी कहानी है। 'अमलतास के फूलों में' कहानी-संग्रह आज के ज्वलंत विषयों के साथ संवाद स्थापित करने का एक सफल प्रयास बन सकता है। ❑

संपर्क : सी-213, लाजपत नगर-1, नई दिल्ली-110024



प्रकाशन विभाग

वेबसाइट: publicationsdivision.nic.in

हमारी कुछ प्रतिष्ठित पुस्तकें अब ऑनलाइन उपलब्ध

- India 2016 (also available as eBook)
- Bharat 2016 (also available as eBook)
- Legends of Indian Silver Screen (also available as eBook)
- Abode Under The Dome
- Winged Wonders of Rashtrapati Bhavan
- Right of The Line : The President's Bodyguard
- Indra Dhanush
- The Presidential Retreats of India
- Rashtrapati Bhawan
- Belief In The Ballot (also available as eBook)
- 1857 The Uprising
- Sardar Patel - A Pictorial Biography (also available as eBook)
- Basohli Painting
- Kangra Painting
- Indian Women : Contemporary Essays
- Gazetteer of India Vol.2
- The Geet Govinda of Shri Jaydev
- Who's Who of Indian Martyrs (Vol-I)
- Who's Who of Indian Martyrs (Vol-II)
- Saga of Valour
- Some Aspects of Indian Culture
- Art & Science of Playing Tabla (also available as eBook)
- Indian Classical Dance
- Celebration of Life : Indian Folk Dance
- Nataraja
- Bengali Theatre : 200 Years (also available as eBook)
- Bihari Satsai - A Commentary
- Eye In Art
- Looking Again At Indian Art
- The Life of Krishna In Indian Art
- Pahari Painting of Nala Damayanti Theme

- South Indian Paintings
- A Moment In Time
- Indian Cinema Through The Century
- A History of Socialism
- Lamps of India
- Wood Carving of Gujarat
- Lawns And Gardens
- गांधी : जीवन और दर्शन
- सरदार पटेल-सचित्र जीवनी (ई-पुस्तक भी उपलब्ध)
- भारत की एकता का निर्माण (ई-पुस्तक भी उपलब्ध)
- युवा संन्यासी
- बिहारी सतसई
- अजंता का वैभव
- भारतीय कला-उद्भव और विकास
- भारतीय चित्रकला में संगीत तत्व
- गढ़वाल चित्रकला
- समय सिनेमा और इतिहास
- भारतीय सिनेमा का सफरनामा
- भारत के दुर्ग
- पर्यावरण संरक्षण : चुनौतियां और समाधान

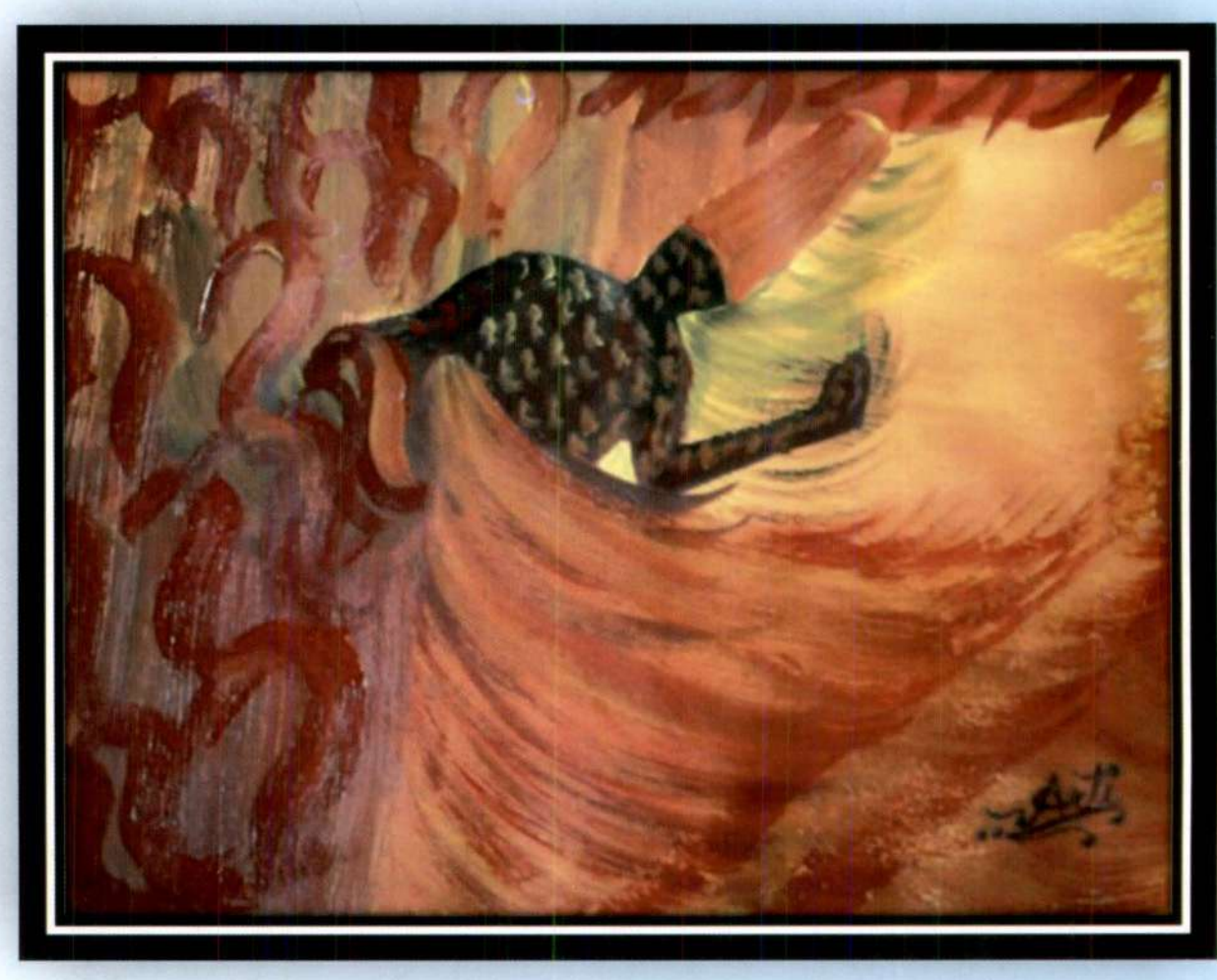
ई-पुस्तकें

- The Gospel of Buddha
- Introduction To Indian Music
- Sardar Vallabhbhai Patel
- Mahatama Gandhi -A Pictorial Biography
- Gandhi in Champaran
- Mahatma Gandhi and One World
- लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
- सरदार वल्लभभाई पटेल (आधुनिक भारत के निर्माता सीरिज)
- लौह पुरुष सरदार पटेल
- ऐसे थे बापू

मुद्रित पुस्तकें flipkart.com पर उपलब्ध

ई-पुस्तकें kobo.com पर उपलब्ध

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2015-17 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2015-17
Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2015-17 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Licenced U (DN) - 49/2015-17 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57
• 10 जून 2016 को प्रकाशित • 21-22 जून 2016 को डाक द्वारा जारी • वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : डॉ. साधना राउत, अपर महानिदेशक एवं प्रभारी द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित । संपादक : फरहत परवीन